श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ८
अंक : ८
विनाशाय च दुष्कृताम्

नीतिवचनामृत

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः।
तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम्॥

त्यागि तरल तृष्णा इहां को दरिद्र को ईस।
तृष्णाको अवसर दिये चढ़ै दासता सीस॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

धरम हेतु धन-चाह ते वाको भली अचाह।
पंक धोइबे ते भलो नहीं छूइबो वाहि॥

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति॥

जाके गृह ते अतिथि कोउ ह्वै निरास चलि जाय।
देइ पाप वाको सकल सुकृत छीनि लै जाय॥

•

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

सम्मानित

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

संख्या ●

वर्ष : ८, अङ्क : ८

मार्च, १९७३

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९८

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

: प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

प्रपत्र : चार

(नियम ८ के अन्तर्गत)

१.	प्रकाशन-स्थल	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा
२.	प्रकाशन-आवृत्ति	:	मासिक
३.	मुद्रकका नाम	:	देवधर शर्मा
	राष्ट्रियता	:	भारतीय
	पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा
४.	प्रकाशकका नाम	:	देवधर शर्मा संयुक्त मन्त्री, श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-सेवासंघ, मथुरा
	राष्ट्रियता	:	भारतीय
	पता	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा
५.	सम्पादकका नाम	:	पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री
	राष्ट्रीयता	:	भारतीय
	पता	:	कैलगढ़ कॉलोनी जगतगंज, वाराणसी
६.	स्वत्वाधिकार	:	श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुरा

मैं देवधर शर्मा, एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार सही हैं।

—देवधर शर्मा

मार्च १९७२

संयुक्त मन्त्री, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

प्रकाशक

अनुक्रम

निबन्ध	पृष्ठसंख्या	लेखक

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२९ चैत्र कृष्ण तृतीया-चतुर्थी गुरुवार २२-३-७३ से चैत्र शुक्ल पूर्णिमा मंगलवार १७-४-७३ तक]

मार्च : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
२२	गुरुवार	संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत
२७	मंगलवार	शीतलाष्टमी
३०	शुक्रवार	पापमोचनी ११ व्रत सबके लिए

अप्रैल : १९७३ ई०

दिनाङ्क	वार	व्रत-पर्व
१	रविवार	प्रदोष, मासशिवरात्रि व्रत १३ वारुणी-पर्व
३	मंगलवार	चैत्र कृ० अमावास्या ३०
४	बुधवार	नवरात्रारम्भ, सं० २०३० प्रारम्भ श्रीकृष्ण-संवत् ५१९९ प्रारम्भ
६	शुक्रवार	गौरी तृतीया
७	शनिवार	श्री पञ्चमी ५
८	रविवार	सूर्यषष्ठी ६
१०	मंगलवार	अन्नपूर्णा-परिक्रमा, महाष्टमी ८
११	बुधवार	श्री रामनवमीव्रत ९
१३	शुक्रवार	पुत्रदा ११ व्रत सबके लिये मेष-संक्रान्ति
१४	शनिवार	शनिप्रदोष
१५	रविवार	अनङ्गत्रयोदशी १३, महावीर-जयन्ती
१७	मंगलवार	चैत्र शु० पूर्णिमा, हनुमज्जयन्ती

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान :

प्रत्यक्षदर्शियोंके भावभीने शब्दसुमन

भगवान् श्रीकृष्णके जन्म-स्थानको देखनेका अवसर मिला। स्थान परम पवित्र तथा रमणीक है। यहाँ आनेसे शान्ति प्राप्त होती है। मन्दिर बहुत स्वच्छ पाया।

रतिराम चौहान
मंत्री। हिमाचल प्रदेश (शिमला)

श्रीकृष्णका चरित्र और माहात्म्य प्रसारित करनेमें यह पवित्र स्थल एक विशेष महत्त्व रखता है। मुझे इसके दर्शनसे परम शान्ति मिली।

श्याम भारद्वाज
सीनियर फेकल्टी एडमिनिस्ट्रेटर
स्टाफ कालेज ऑफ इण्डिया
हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

आज श्रीकृष्ण-जन्मभूमिके दर्शनका सौभाग्य मिला। जन्मस्थानमें प्रातःकाल भागवत-कथामृतका भी पान सुलभ हुआ। हृदय भावविभोर हो उठा। मैं इसे भगवान्की अहैतुकी कृपाका फल समझता हूँ। भाई गजानन्दजी भी साथ थे। मैं भगवान् कृष्णसे प्रार्थना करता हूँ कि भागवतधर्म-मन्दिरका निर्माण शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो और वह हम भारतीयोंके सामाजिक एवं धार्मिक-जीवनका दिव्य प्रेरणास्थल बने।

गोस्वामी हरिजीवन लाल
गजानन्दजी सरावगी
सी-२०४, डिफेंस कालोनी, नयी दिल्ली—२४

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका दर्शन हो रहा है। इस युगमें उनके सन्देशको जन-जीवन-तक पहुँचानेका महान् प्रयास सफल हो।

उस महाप्रभुके चरणोंमें नत-मस्तक!

राजकुमार मित्तल
मुख्य यांत्रिक अभियन्ता
उ० प्र० राज्य सड़क-परिवहन
केन्द्रीय निग. कार्यशाला कानपुर,

मैं कई दिनोंसे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके अन्ताराष्ट्रीय अतिथि-भवनमें ठहरा हूँ। स्वाधीन भारतमें जन्म-स्थानका पुनरुद्धार तथा पुनरुत्थान हो, यह तो स्वाभाविक ही है; फिर भी यह प्रयत्न स्तुत्य है। आशा है यह स्थान पुनः भारतका आध्यात्मिक और सांस्कृतिक केन्द्र बनेगा।

यहाँका प्रबन्ध बहुत अच्छा है। सफाई है, शान्ति है। परन्तु उत्तमसे भी परे उत्तमोत्तम होता है, इस स्थानको 'उत्तमोत्तम' बनाना है।

योगेश्वर श्रीकृष्णकी जन्मभूमि सिद्धस्थली है। यहाँ सिद्धि-लाभ सहज है। अतएव यहाँ एक योगध्यान-प्रकोष्ठका निर्माण आवश्यक है। यदि यह प्रकोष्ठ भूगर्भ-स्थित हो तो अति-उत्तम ! साधक यहाँ बैठकर शान्तिसे साधना कर सकें। दस-पाँच कुशासन रखे हों तथा भगवान्‌की एक सुन्दर तसवीर हो। इस स्थानको कर्मभूमि, धर्मभूमिके साथ ही साधना-भूमि भी होना चाहिए।

वृजकिशोरप्रसाद सिंह
भूतपूर्व संसद्-सदस्य
वरिष्ठ अधिवक्ता
सर्वोच्च न्यायालय, दिल्ली

Beautiful and historical place, nice to visit.

O. Sarnik Fao-Poland
Warsaw
A, Sarnik, Warsaw-Poland

My wife and I have been privileged to see the birth place of Lord Krishna and hear the story of his life from our good friend Vijaya Behal. We hope the restoration work continues to endure and enhance the historical significance of this holy place.

BOB and Claire Georgeson
I Nethercote Drive
Mt. Waverley, Victoria, Australia

We, J T B 4th Budhiss Piligrimage of 23 persons visited this place of Birth of Lord Krishna, which is very fine.

Mr. S. Tabe
Tour Leader
Tokyo, Japan

I am visiting this sacred place after 20 years and I am both highly impressed & greatly satisfied at the good work being done at and around the birth place of Lord Krishna, more so when I see the visitors from other lands who are coming here. One way of reaching a highter life and fostering human unity is through devoted work for good, common causes and through Love & Bhakti–a way shown by Lord Krishna.

Mathura 6th Jan. 1973

K. Pratap
Indian Embassy
Washington D.C.U.S.A.
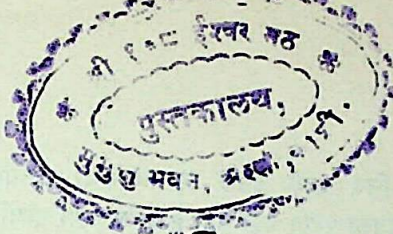
वर्ष : ८] मथुरा : मार्च, १९७३ [अङ्क : ८

कामको जीतो

प्रायः यह देखा जाता है कि मनुष्य न चाहते हुए भी पाप-कर्म कर बैठता है; मानो किसीने बलपूर्वक हाथ पकड़कर उसे इस कुत्सित कर्ममें लगा दिया हो। ऐसा क्यों होता है? कौन उस पर हावी होकर उसे पापाचारमें प्रवृत्त करता है? इस प्रश्नके उत्तरमें निवेदन यह है कि मनुष्यके भीतर काम डेरा डाले बैठा है। इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे हुई है। यह काम ही अपने मार्गमें बाधा उपस्थित होनेपर क्रोधका रूप धारण कर लेता है। इस कामका पेट बहुत बड़ा है, कितना ही भोजन क्यों न दिया जाय, इसका पेट कभी भरता नहीं। वह कभी तृप्त होना जानता ही नहीं। अतएव इसे 'महाशन एवं महान् पापी' कहा गया हैं; क्योंकि यह अपनी उदर-पूर्तिके लिए बड़ेसे बड़े पाप करवा देता है। यही पापके लिए प्रेरक है। इसे मनुष्य अपना महान् शत्रु समझे। जैसे धुएँसे आग ढँकी रहती है, जैसे मैलसे दर्पण ढँका होता है तथा जैसे जेरसे गर्भ आवृत रहता है, वैसे ही इस कामसे यह ज्ञान ढँका हुआ है। यह काम ज्ञानी पुरुषका नित्य वैरी है; क्योंकि इसने ज्ञानको ढँक रखा है। ज्ञान आत्माका स्वरूप है; जो स्वरूपको भी आवृत या विलुप्त कर दे, उससे बढ़कर नित्य-वैरी और कौन हो सकता है? अन्य शत्रु तो बाहर रहकर वहाँसे आक्रमण करते हैं, किन्तु यह कामरूपी शत्रु भीतर रहकर, मनुष्यके अपने ही घरमें बैठकर उसे स्वरूपप्रच्युत कर देता है। जैसे आगमें कितनी ही घी की आहुति डाली जाय, वह तृप्त नहीं होती, अधिकाधिक भभकती जाती है, वैसे ही यह काम है। इसकी भूख मिटाना असंभव है। इसका पेट भरना नितान्त कठिन है। इसे काम नहीं, प्रज्वलित अग्नि कहना चाहिए।

इस शत्रुको मिटानेके लिए पहले इसके स्कन्धावार या छावनीका पता लगाना होगा। यह जानना होगा कि इसका पड़ाव कहाँ पड़ा है? महात्मा पुरुषोंने इसके ठिकानेको ढूंढ़ निकाला है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये ही इसके वासस्थान हैं। इन्हीं स्थानों या दुर्गोंका सहारा लेकर यह ज्ञानपर आवरण डालता है और इस देहके स्वामी देहीको मोहित करता है। जब शत्रुके अड्डेका पता चल गया, तो पहले उसीपर कब्जा करना चाहिए। अतः मनुष्यका पहला कर्तव्य है कि वह अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे और वहाँ रहनेवाले इस ज्ञान-विज्ञान-नाशक पापी शत्रुको मार डाले। यदि कहो, मुझमें इतनी शक्ति कहाँ कि ऐसे प्रबल शत्रुको मार सकें? तो यह तुम्हारी भूल है। तुम अपने स्वरूपको, अपनी शक्तिको भूले बैठे हो। तुम क्या हो, इसे समझ लो; फिर अपने आपको सर्व-समर्थ पाओगे। इस स्थूलशरीरकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ और सशक्त हैं, वे देहसे अत्यन्त उत्कृष्ट स्थितिमें हैं। क्योंकि इन्हींकी प्रेरणासे शरीर संचालित होता है। इन इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है; क्योंकि सारी इन्द्रियाँ मनकी अनुगामिनी हैं। मन जहाँ चाहे वहाँ ये हाथ जोड़े दौड़ी जाती हैं। मन ही समस्त इन्द्रियोंका प्रेरक है। अतः मनद्वारा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण स्थापित करो। यदि कहो, इन्द्रियाँ मनके वशमें तो हैं ही, फिर भी इनपर मनुष्यका नियन्त्रण क्यों नहीं होता? ठीक है, अब मनको भी वशमें करो। इसे वशमें करनेके लिए बुद्धिका सहारा लो; क्योंकि बुद्धि मनसे श्रेष्ठ है। वह स्वभावतः मनको अपने वशमें रखती है। इन्द्रियाँ और मन जब दोनों बुद्धिके वशमें हैं, तब ये बुद्धिके विपरीत कुछ नहीं कर सकते। इन्द्रिय और मन-रूपी दुर्गपर अधिकार पानेके बाद अब बुद्धि नामक दुर्गपर भी कब्जा करना होगा। अब यह देखो कि इस बुद्धिसे भी बड़ा कौन है? बुद्धिसे भी बड़ा आत्मा है, स्वयं तुम हो। अपनी शक्तिको समझो। तुम बुद्धि, मन और इन्द्रियोंको अपने एक संकेतपर नचा सकते हो। इतनी बड़ी शक्ति रखते हुए भी तुम इन अनुगामियोंके वशमें हो रहे हो, यह कितनी लज्जाकी बात है! इस प्रकार विचारद्वारा अपने आत्माको बुद्धिसे भी सूक्ष्म, श्रेष्ठ एवं प्रबल जानकर अपने द्वारा प्रेरित बुद्धिसे मनको वशमें करके इस कामरूपी दुर्जय शत्रुको मार डालो। यह तुम्हारे लिए बायें हाथका खेल है।

—गीता : अध्याय ३

भगवान् क्या हैं?

भगवान् सबकी गति, प्राप्तव्य हैं। सबका वे ही भरण-पोषण करते हैं। वे ही सबके स्वामी, शुभाशुभके द्रष्टा, सबके निवास-स्थान तथा शरण (आश्रय) हैं। सबके सुहृद्-सखा भी वे ही है। उन्हींसे सबकी उत्पत्ति होती है। वे ही सबके प्रलय-स्थान हैं। सम्पूर्ण विश्वके आधार, निधान और अविनाशी कारण भी वे ही हैं। (गी० ९।१८)

●

अपार स्नेह

१.

कितना प्यार तुम्हारा प्रियतम !
राई-से मेरे गुणको भी तुमने पर्वत माना,
पर्वत-सा महान् अवगुण भी राईके सम जाना।
लघुको दिया बड़प्पन कितना हृदय उदार तुम्हारा प्रियतम ॥

२.

देखे बिना तुम्हें पलभर भी प्राण नहीं कल पाते,
सुख देनेको मुझे प्राणधन दौड़े भागे आते।
लहराता संतत करुणाका पारावार तुम्हारा प्रियतम ॥

३.

कारण बिना रूठनेका जब जाता किया बहाना,
उसको भी सच मान तुम्हारा अतिआकुल हो जाना।
बलिहारी जीवन यह लखकर वह मनुहार तुम्हारा प्रियतम ॥

४.

मैंने कुछ न दिया है, तुमसे पाया ही पाया है,
सब अपराध भूलकर मुझको तुमने अपनाया है।
भूल सकेगा कौन कभी भी मधुर दुलार तुम्हारा प्रियतम ॥

५.

सर्वेश्वर हो दीन-हीनको तुमने गले लगाया,
फूल मानकर धरा-धूलको अपने शीश चढ़ाया।
शब्द नहीं, कैसे कह पाऊँ स्नेह अपार तुम्हारा प्रियतम ॥

—श्री 'राम'—

श्रीकृष्णकी सहिष्णुता

★

एक दिनकी बात है, द्वारकापुरीमें एक ब्राह्मण देवता पधारे। उनके शरीरकी कान्ति हरित-पिङ्गल वर्णकी थी। उनके हाथमें वेलका डंडा था और उन्होंने शरीरपर वस्त्रकी जगह चिथड़े लपेट रखे थे। उनकी दाढ़ी और मूँछें बढ़ी हुई थीं। वे देखनेमें दुवले-पतले थे, किन्तु कद बहुत ऊँचा था। उन दिनों भूतलपर जो लम्बेसे लम्बे मनुष्य थे, उन सबकी अपेक्षा वे अधिक ऊँचे कदके थे। उनकी दिव्य और मानव-लोकमें सर्वत्र अबाध गति थी।

उन्होंने पुरीमें पदार्पण करते ही धर्मशालाओं और चौराहोंपर घोषणा करवा दी कि 'मैं किसी सद्‌गृहस्थके घर कुछ कालतक निवास करना चाहता हूँ, कौन मुझे अपने यहाँ ठहरनेके लिए स्थान देगा? यदि कोई मेरा थोड़ा-सा भी अपराध कर दे, तो मैं अत्यन्त कुपित हो उसका भारीसे-भारी अनर्थ कर सकता हूँ। मेरे इस स्वभावको ध्यानमें रखते हुए कौन मुझे सत्कार-पूर्वक ठहरायेगा? जो कोई मुझे अपने घरमें रखे, वह अपने किसी भी आचरणसे क्रोध न दिलाये, इस बातके लिए उसे सतत सावधान रहना होगा।'

ब्राह्मणकी इस भयंकर घोषणाको सुनकर किसीको यह साहस नहीं हुआ कि वह उन्हें अपने घरमें स्थान दे। वे सभी ओरसे निराश हो भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। उन्होंने बड़े आदर-सत्कारके साथ उन्हें अपने महलमें ठहराया और उनकी सेवा-सुश्रूषाके लिए समुचित व्यवस्था कर दी।

ब्राह्मण देवता और कोई नहीं, साक्षात् दुर्वासा थे। उन्होंने अपनी ही ओरसे ऐसी चेष्टाएँ आरम्भ कीं, जिनसे किसीका भी क्षोभ और असन्तोष भमक उठे। किन्तु भगवान् उनके सारे प्रतिकूल आचरणोंको धैर्यपूर्वक सहन करते रहे।

दुर्वासाजीकी दिनचर्या वहाँ विचित्र रूपसे चलने लगी। वे कभी तो एक ही समय इतना अन्न भोजन कर लेते, जितनेसे सैकड़ों मनुष्य तृप्त हो सकते थे। कभी बहुत थोड़ा अन्न खाते तथा उस दिन घरसे बाहर निकल जाते और फिर घर नहीं लौटते थे। वे कभी तो अकस्मात् जोर-जोरसे हँसने लगते और कभी अचानक फूट-फूटकर रो पड़ते। उस समय पृथ्वीपर उनका समवयस्क कोई नहीं था।

एक दिन वे अपने ठहरनेके स्थानपर जाकर वहाँ बिछी हुई शय्याओं, बिछौनों, अन्यान्य उपकरणों तथा सेवक-सेविकाओंको भी जलाकर भस्म कर दिया और स्वयं वहाँसे खिसक गये। फिर तुरन्त ही श्रीकृष्णके पास आकर वे कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि बोले: 'कृष्ण! मैं शीघ्र ही खीर खाना चाहता हूँ।'

भगवान् सबके मनकी जानते हैं, उन्होंने सभी तरहके उत्तमोत्तम भोजनकी व्यवस्था करा रखी थी। आज्ञा मिलते ही दुर्वासाजीके समक्ष गरमागरम खीर प्रस्तुत कर दी गयी। उसको थोड़ा-सा खाकर वे तुरन्त बोले। 'कृष्ण! शीघ्र ही इस खीरको अपने सारे अंगोंमें

पोत लो।' भगवान्‌ने अविलम्ब उनकी इस आज्ञाका पालन किया। वह जूठी खीर उन्होंने अपने सिरपर तथा अन्य सारे अंगोंमें पोत ली। इतनेमें ही मुनिने देखा; रुक्मिणी पास ही खड़ी-खड़ी मुसकरा रही हैं। उन्होंने उनके अंगोंमें भी वही खीर पोतनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर श्रीकृष्णने रुक्मिणीके अङ्गोंमें भी खीर पोत दी। उसी अवस्थामें दुर्वासाजीने रुक्मिणीको रथमें जोत दिया और उसी रथपर बैठकर वे घरसे निकले। उस समय उनका तेज अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। उन्होंने श्रीकृष्णके देखते रुक्मिणीको चाबुक मार-मारकर आगे बढ़नेको प्रेरित किया। श्रीकृष्णके चित्तमें इससे थोड़ा-सा भी दुःख या क्षोभ नहीं हुआ। दुर्वासा महलसे निकलकर विशाल राजमार्गपर चलने लगे। रुक्मिणीपर बराबर चाबुकोंकी मार पड़ती रही।

यह दृश्य देखकर यदुवंशियोंको बड़ा ही दुःख और क्रोध हुआ। वे आपसमें बातें करने लगे: 'बन्धुओ! इन ब्राह्मणदेवताके सिवा दूसरा कौन पुरुष होगा, जो इस रथपर इस तरह बैठकर जीवित रह सके। इनका ब्राह्मणत्व ही इनकी रक्षा कर रहा है।' दुर्वासाके इस प्रकार रथसे यात्रा करते समय बेचारी रुक्मिणी रास्तेमें लड़खड़ाकर गिर पड़ी। मुनि महाराजको यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने रुक्मिणीकी पीठपर कई कोड़े जमाये। जब वह बार-बार लड़खड़ाने लगी, तब दुर्वासाजी और भी कुपित हो उठे और रथसे कूदकर बिना रास्तेके ही दक्षिण दिशाकी ओर भागने लगे। सारे शरीरमें खीर लपेटे श्रीकृष्ण भी उनके पीछे-पीछे दौड़े और बोले: 'भगवन्! अपराध क्षमा कीजिये, प्रसन्न होइये।'

श्रीकृष्णकी अद्भुत सहिष्णुता देख दुर्वासाके क्रोधका नाटक समाप्त हो गया। वे तुरन्त लौट पड़े और बोले। 'महाबाहो! सर्वसमर्थ होकर भी तुम मेरे इतने दुर्व्यवहार करनेपर भी क्षमाशील, विनम्र और परम शान्त रहे। तुमने स्वभावसे ही क्रोधको जीत लिया है। मैंने बहुत कड़ी दृष्टि रखनेपर भी यहाँ तुम्हारा कोई अपराध नहीं देखा, अतः मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम मुझसे मनोवाञ्छित वस्तु माँग लो। तात! मेरे प्रसन्न होनेका भविष्यमें तुम्हें क्या फल मिलेगा, सुन लो। देवता और मनुष्योंका आहारके प्रति जैसा आकर्षण होता है, वैसा ही तुम्हारे प्रति भी बना रहेगा। तीनों लोकोंमें तुम्हारी अक्षय पुण्यकीर्ति रहेगी और तुम त्रिलोकीमें प्रधान बने रहोगे। सब लोकोंके परम प्रिय होओगे। मैंने तुम्हारी जो जो वस्तु तोड़ी-फोड़ी या नष्ट की है, वह सब तुम्हें पहलेसे भी अच्छी अवस्थामें सुरक्षित मिलेगी। मधुसूदन! तुमने अपने सारे अंगोंमें जहांतक खीर लगायी है, वहाँ तकके अंगोंमें घातक चोट लगनेपर भी तुम्हें मृत्युका भय नहीं रहेगा। तुम जबतक चाहोगे, यहाँ अमर बने रहोगे। फिर भी यह खीर तुमने अपने पैरोंके तलवोंमें नहीं लगायी है; यह मुझे प्रिय नहीं लगा।'

दुर्वासाके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णने अपने शरीरको अत्यन्त अद्भुत कान्तिसे सम्पन्न पाया। तत्पश्चात् मुनिने रु[illegible]से कहा: 'शोभने! तुम सम्पूर्ण स्त्रियोंमें यशस्विनी और उत्तम कीर्तिमती होओगी। तुम्हें बुढ़ापा, रोग तथा कान्तिहीनता आदि दोष नहीं छू सकेंगे। तुम पवित्र सुगन्धसे सुवासित रहकर श्रीकृष्णकी समाराधना करोगी। श्रीकृष्णकी जो सोलह हजार रानियाँ हैं, उन सबमें तुम श्रेष्ठ तथा पतिके सालोक्यकी अधिकारिणी होओगी।'

●

कर्मफलका त्याग : जीवन-कला

श्री आचार्य विनोबा भावे

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जीवनके सिद्धान्त बताये तो, किन्तु केवल सिद्धान्त बता देनेसे काम पूरा नहीं हो सकता। गीतामें वर्णित ये सिद्धान्त तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें भी पहलेसे ही थे। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया, इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं। उसकी अपूर्वता तो यह यह बतलानेमें है कि इन सिद्धान्तोंको आचरणमें कैसे लायें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है।

जीवनके सिद्धान्तोंको व्यवहारमें लगानेकी जो कला या युक्ति है, उसीको 'योग' कहते हैं। 'सांख्य' का अर्थ है 'सिद्धान्त' अथवा 'शास्त्र' तो 'योग' का अर्थ है 'कला'। ज्ञानदेव अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट करते हैं :

योगियां साधला जीवन-कला।

'योगियोंने जीवन-कला साध ली है।' गीता सांख्य और योग यानी शास्त्र और कला, दोनोंसे परिपूर्ण है। शास्त्र और कला, दोनोंके योगसे जीवन-सौन्दर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई-महल है। सङ्गीतशास्त्रको समझ तो लिया, किन्तु यदि कण्ठसे सङ्गीत प्रकट करनेको कला न सधी, तो नाद-ब्रह्मकी सजावट न होगी। यही कारण है कि भगवान्ने सिद्धान्तोंके साथ उनके विनियोग जाननेका कला भी बतायी है।

तो वह भला कौन-सी कला है ? देहको तुच्छ मानकर आत्माकी अमरता और अखण्डतापर दृष्टि रखकर स्वधर्मका आचरण करनेकी वह कला कौन सी है ?

जो कर्म करते हैं, उनकी वृत्ति दोहरी होती है। एक यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे, यह हमारा अधिकार है। इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखनेको न मिले तो हम कर्म ही नहीं करेंगे। गीता इन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरी ही वृत्ति बताती है। वह कहती है : 'कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार न मानो। जो कर्म करता है, उसे फलका अधिकार अवश्य है, पर तुम उस अधिकारको स्वेच्छासे छोड़ दो। रजोगुण कहता है : 'लूँगा तो फलके सहित ही लूँगा :' और तमोगुण कहता है : 'छोड़ूँगा तो कर्मसमेत ही छोड़ूँगा।' ये दोनों एक दूसरेके भाई ही है। अतः तुम इन दोनोंसे ऊपर उठकर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो। अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड़ दो और फलको छोड़कर कर्म करो। पहले और पीछे, कहीं भी फलकी आशा मत रखो।''

'फलकी आशा न रखो' ऐसा कहते हुए गीता यह भी बताती है कि कर्म उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए, यह अपेक्षा उचित ही है। क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल-सम्बन्धी स्वप्न -चिन्तनमें उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेगी। परन्तु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नहीं,

हवाको विश्राम नहीं, सूर्य सदैव जलते ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम-कर्ता सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। तब यदि ऐसे निरन्तर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा ?

फिर चित्तकी समता एक बड़ा ही उत्तम गुण है और वह तो निष्काम पुरुषकी बपौती ही समझिये। किसी बिलकुल बाहरी कारीगरोके काममें हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका योग हो, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुन्दर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अन्तर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल' इस दृष्टिके कारण यदि कर्मको ओरसे उसका थोड़ा भी ध्यान हट गया, तो उसमें उसे नैतिक दोष नहीं मालूम होता, व्यावहारिक दोष जान पड़ता है। परन्तु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोड़ी-सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी तरह देखिये, फल-त्याग अत्यन्त कुशल एवं यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है। अतः फल त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड़ दें, तो भी खुद कर्ममें जो आनन्द है, वह उसके फलमें नहीं। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है, वह आनन्दका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिये : 'चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम चाहे जितने पैसे ले लो' तो वह नहीं मानेगा। किसानसे कहिये : 'खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, अनाज तुम्हें दे देंगे।' यदि वह सच्चा किसान होगा, तो यह सौदा कभी पसन्द न करेगा। किसान प्रातःकाल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गान गाते हैं। गाय-बैल आस-पास उसे घेरे रहते हैं। वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है। जो पेड़-पौधे लगाये हैं उनको प्रेमभरी दृष्टिसे देखता है। इन सब कार्योंमें एक सात्त्विक आनन्द है। यह आनन्द ही उस कर्मका सच्चा और मुख्य फल है। इन सबकी तुलनामें उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्मफलसे हटा लेती है, तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौगुनी बढ़ा देती है। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्मगत तन्मयता समाधिकी कोटिकी होती है। इसलिए उसका आनन्द औरोंसे सौगुना अधिक होता है। इस तरह देखें तो यह बात तुरन्त समझमें आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक महान् फल है। ज्ञानदेवने यह ठीक ही पूछा है : 'वृक्षमें फल लगते हैं, पर फलमें अब और क्या फल लगेंगे ?' इस देहरूपी वृक्षमें निष्काम स्वधर्माचरण रूप सुन्दर फल लग चुकनेपर अब अन्य किसी फलकी ओर क्यों अपेक्षा रखे ? किसान खेतमें गेहूं बोये और गेहूं बेचकर ज्वारीकी रोटी क्यों खाये ? सुस्वादु केले लगाये और केले बेचकर मिर्च क्यों खाये ? अरे भाई केले ही खाओ न ! पर लोकमतको यह स्वीकार नहीं। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते हैं। गीता कहती है : 'तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।' कर्म

करनेमें ही सब कुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायामका फल अपने आप मिल जाता है। उस फलको ओर उसका ध्यान नहीं रहता। उसका सारा आनन्द तो उस खेलमें ही समाया है।

सन्तजनोंने अपने जीवन द्वारा यह बात सिद्ध कर दिखायी है। तुकारामका भक्तिभाव देखकर शिवाजी महाराजके मनमें उनके प्रति बहुत आदर होता था। एकबार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परन्तु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ। उन्होंने अपने मनमें सोचा : 'क्या यह मेरी भक्तिका फल है? क्या इसीके लिए मैं भक्ति करता हूँ ?' उनको ऐसा प्रतीत हुआ, मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल हाथ थमाकर उन्हें अपनेसे दूर हटाना चाहता हो। उन्होंने कहा :

जाणुनि अन्तर। टाळशील कर-कर।
तुज लागली हे खोडी। पांडुरंगा बहुकुडी॥

—'मेरे अन्तस्तलको जानते हुए तुम मेरी झंझट टालना चाहते हो? हे पाण्डुरंग, तुम्हें यह बड़ी बुरी आदत लग गयी है।

'भगवन् तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं। तुम मुझे यह घूस देकर टरकाना चाहते हो? मनमें सोचते हो कि इस आफतको निकाल ही दूँ न! लेकिन मैं भी कच्चा नहीं। तुम्हारे पाँव पकड़ बैठ जाऊँगा।' भक्ति ही भक्तका स्वधर्म है और भक्तिमें दूसरे-तीसरे फलोंकी शाखाएँ न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।

पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने माँ-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पाण्डुरंग उसकी भेंटके लिए दौड़े आये। परन्तु पुण्डलीकने पाण्डुरंगके चक्करमें पड़कर अपना सेवाकार्य छोड़नेसे इनकार कर दिया। अपने माँ-बापकी सेवा उसके लिए सच्ची ईश्वरभक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरोंको लूट-खसोटकर अपने माँ-बापको सुख पहुँचाता हो अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोंको वह भक्ति नहीं कहलायेगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमें फँसा नहीं। उसने सोचा कि परमात्मा जिस रूपको धारणकर मेरे सामने खड़ा है, क्या वह इतना ही है? उसका यह रूप दिखायी देनेसे पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी? वह भगवान्से बोला :

'भगवन्, आप स्वयं मुझे दर्शन देनेके लिए आये हैं यह मैं जानता हूँ; पर मैं 'भी' सिद्धान्तको माननेवाला हूँ। आप ही अकेले भगवान् हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् हैं और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपको ओर ध्यान नहीं दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिये।' इतना कहकर उसने भगवान्के खड़े रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवाकार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसङ्गको लेकर बड़े कुतूहलसे विनोदपूर्वक कहते हैं :

कां रे प्रेमें मातलासी। उभे केलें विठ्ठलासी।
ऐसा कैसा रे तूं धीट। मागें भिरकाविली वीट॥

'तू कैसा मतवाला प्रेमी है कि तूने विट्ठलको खड़ा रखा ? तू कैसा ढीठ है कि तूने विट्ठलके लिए इंट सरका दी ।'

पुण्डलीकने जो यह 'भी' सिद्धान्तका उपयोग किया, वह फलत्यागकी युक्तिका एक अंग है । फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गम्भीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक उदार और सम रहती है । इस कारण वह विविध दर्शनोंके जंजालमें नहीं पड़ता और न अपना सिद्धान्त ही छोड़ता है । **नान्यदस्तीति वादिनः**—'यही है, दूसरा बिलकुल नहीं,' ऐसे विवादमें वह नहीं पड़ता । 'यह भी सही है और वह भी सही है; परन्तु मेरे लिए तो यही सही है; ऐसी उसकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है ।

एकबार एक गृहस्थ एक साधुके पास गया और उसने उससे पूछा : 'मोक्षप्राप्तिके लिए क्या घर-बार छोड़ना आवश्यक है ?' साधुने कहा : 'नहीं तो । देखो, जनक-जैसोंने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया, तो फिर तुम्हें ही घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता ?' फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे उसने पूछा : 'स्वामीजी, घर-बार छोड़े बिना भी तो मोक्ष मिल सकता है ?' साधुने कहा : 'कौन कहता है ? घरमें रहकर सेंत-मेंतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक जैसोंने जो घर-बार छोड़ा, तो क्या वे मूर्ख थे ? बादमें उन दोनों मनुष्योंकी जब एक-दूसरेसे भेंट हुई तो दोनोंमें बड़ा झगड़ा मचा । एक कहने लगा : 'साधुने घर-बार छोड़नेके लिए कहा है ।' दूसरेने कहा : 'नहीं, उन्होंने कहा है कि घर-बार छोड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं ।' तब दोनों साधुके पास आये । साधुने कहा : 'दोनोंका कहना ठीक है । जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर ! घर छोड़नेकी जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोड़नेकी जरूरत नहीं, यह भी सत्य है ।' इसीको कहते हैं 'भी'-सिद्धान्त ।

पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिलतक पहुँचानेवाला है । तुकारामको जो प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुण्डलीकवाला लालच बड़ा मोहक था, परन्तु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ । यदि हो जाता, तो फँस जाता । अतः एकबार साधनका निश्चय हो जानेपर अन्त तक उसका आचरण करते रहना चाहिए । फिर बीचमें प्रत्यक्ष भगवान्के दर्शन जैसी बाधा खड़ी हो जाय, तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता नहीं । देह बचा है, तो वह साधनके लिए ही है, भगवान्का दर्शन तो हाथमें ही है; वह जाता कहाँ है ?

सर्वात्मकपण माझें हिरोनि नेतो कोण ? मनीं भक्तींची आवडी ॥

—'मेरा सर्वात्मभाव कौन छीन ले जा सकता है ? मेरा मन तो तेरी भक्तिमें रंगा हुआ है ।'

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है । **'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'** इस गीता-वचनका अर्थ यहाँतक जाता है कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी अर्थात् अन्तिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी वासना मत रख । वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष है । मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना ? जब फलत्याग इस मंजिलतक पहुँच जाता है, तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गयी !

●

सुख और शान्ति कैसे प्राप्त हो ?

श्री स्वामी रामसुखदासजी महाराज

★

परमात्माकी विशेष कृपासे हम सबको मानव-शरीर मिला है। इसका सदुपयोग करनेसे हमें वास्तविक सुख मिल सकता है। शास्त्रों और सन्तोंका ऐसा ही कथन है। जीव परमात्माका ही अंश है : 'ममैवांशः' (गी० १५.७) इस सत्यको भूल जानेके कारण वह परमात्मासे विमुख हो प्रकृतिजनित शरीर और संसारमें आसक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रकृतिस्थ होना ही उसके लिए दुःखका कारण है (गी० १३.२१)। प्रकृतिस्थ जीव सुखकी इच्छासे जिन वस्तुओंका संग्रह करता है, वे नश्वर होती हैं। संसारकी हर वस्तु ही असुख है—दुःखरूप है। उससे सुख पानेकी इच्छा रखना ही दुःखका मूल है। विचार करनेपर सबको ऐसा अनुभव हो सकता है। इन सब बातोंपर विचार करनेके लिए मानव-जीवन मिला है। परमात्माने जिस उद्देश्यकी सिद्धिके लिए हमें मानव-जीवन प्रदान किया है, उसीके लिए इसका उपयोग करना इस जीवनका सदुपयोग है।

परमात्माकी प्राप्तिके लिए ही जीवको मानव-शरीर मिलता है और मिला है; अतः हममें जन्मसे ही परमात्म-प्राप्तिकी योग्यता है। 'योग्यता नहीं प्राप्त है' ऐसा कहनेपर यह कथन संभव नहीं हो सकता कि परमात्माकी प्राप्तिके लिए ही हमें यह शरीर मिला है। यदि समय, समझ, सामर्थ्य और सामग्रीका ठीक-ठीक उपयोग किया जाय, तो तत्काल ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।

विचार करके देखें तो यह बात समझमें आ सकती है कि परमात्मा नित्य हो प्राप्त हैं। अज्ञानवश क्षणभंगुर प्राणि-पदार्थोंसे संग कर लेनेके कारण वे अप्राप्त-से हो गये हैं। इसीका यह फल है कि हमें दुःख प्राप्त होता है। जगत् नश्वर एवं दुःखरूप है, परमात्मा नित्यसुखस्वरूप हैं और उनके साथ हमारी सतत एकता है; इन बातोंका विचार करनेपर तत्काल ही शान्ति प्राप्त होती है।

हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं। उनके साथ हमारा यह सम्बन्ध स्वतः-सिद्ध है, नित्य है। हम सब परमात्माका अंश होनेसे शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप हैं। इस यथार्थ तत्त्वका अनुभव होते ही सदाके लिए प्राप्तव्यकी प्राप्ति हो जाती है। हम कृतकृत्य हो जाते हैं। इसीलिए सन्तोंने कहा है।

'रहता रूप सही करि राखो, बहता सँग न बहीजै।'

'स्वरूप सदा रहनेवाला है, उसे संभाल कर रखना चाहिए। बहतेके साथ बहना नहीं चाहिए। बहतेका संग छोड़ देना चाहिए।' उससे सुखकी आशा कभी नहीं करनी चाहिए। जो यथायोग्य सबकी सेवा करता है और किसीसे किंचिन्मात्र कुछ भी नहीं चाहता, वह कृतकृत्य हो जाता है। जो केवल परमात्मासे प्रेम करता है, उसे पाने योग्य सब कुछ प्राप्त हो जाता है। उसके लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता। जो परमात्मासे अपने स्वरूपकी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है, उसे सम्पूर्ण ज्ञातव्यका ज्ञान हो जाता है। उसके लिए पुनः कुछ जानना शेष नहीं रहता।

वासुदेवः सर्वम्—सब कुछ भगवान् वासुदेव ही है, इस दृष्टिसे जिन्होंने सबको भगवत्स्वरूप समझा या अनुभव किया है, उनके जीवनमें आनन्द ही-आनन्द है। वे स्वयं आनन्दरूप ही हैं। जिन्होंने संसारको दुःखालय (दुखका घर) और अशाश्वत (क्षणभंगुर) जाना अथवा अनित्य एवम् असुख समझा वे भी परम सुखी हैं; क्योंकि उन्हें संसारसे सुखकी आशा ही नहीं रहती। उनके हृदयमें इच्छा और द्वेषका सर्वथा अभाव हो जाता है। वे पापहीन, पुण्यकर्मा मनुष्य द्वन्द्व और मोहसे सर्वथा विनिर्मुक्त हो दृढ़तापूर्वक भगवान्‌का भजन करते हैं : **ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।** (गीता ७.२८)।

जिन लोगोंने संसारमें शत्रु, मित्र, त्याज्य, ग्राह्य, ठीक-वेठीक, अनुकूल-प्रतिकूल आदि भाव बना रखे हैं; उन्हें महान क्लेश भोगना पड़ता है। जो तत्त्वतः भगवत्स्वरूप ही है, उसमें भेदबुद्धि कर लेना अथवा जो नश्वर होनेसे सर्वथा हेय ही है, उसमें ठीक-वेठीक आदिका भाव बना लेना दुःखका ही कारण है। क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य, इस विषयमें शास्त्रको ही प्रमाण मानना चाहिए। शास्त्रीय दृष्टिको त्यागकर मन-माने आचरण करनेसे दुःख ही दुःख मिलता है।

वासुदेवः सर्वम् यह प्रौढ ज्ञान-दृष्टि है, सिद्ध भक्तों अथवा सुदुर्लभ महात्माओंकी दृष्टि है। संसार अनित्य और दुःखरूप है—ऐसा अनुभव करना साधककी दृष्टि है।

गये सो आवनको नहीं, रहे सो जावनहार।

ऐसी दृष्टि रखनेसे संसारका समग्र रूपसे त्याग संभव है। अपने सुखके लिए जगत्‌की इच्छा न करना त्याग है तथा देह-इन्द्रिय, मन-बुद्धि आदिको प्रकृतिका ही अंश जानकर इन्हें अपना स्वरूप न मानना त्याग है।

जो संसारसे सुखकी इच्छा नहीं रखता तथा जो शरीर-इन्द्रिय आदिमे अहंबुद्धि नहीं करता, वह मुक्त है। वह राजा जनककी भाँति देहमें रहता हुआ भी विदेह है। जिसने यह स्थिति प्राप्त कर ली, उसीका जीवन सार्थक है। उसने मानव-जीवनका उपयोग स्वर्ग-नरक अथवा अधोगतिके लिए नहीं किया है। उसने अपवर्गके लिए अर्थात् भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षके लिए इस जीवनका सदुपयोग किया है। वही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वही योगयुक्त है, उसीने सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मका अनुष्ठान पूर्ण कर लिया है : **स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्,** (गीता ४.१८) वह कृतकृत्य हो चुका है।

सुख प्यारा लगता है, परन्तु वह पुण्योंका क्षय करनेवाला है। दुःख अप्रिय प्रतीत होता है; परन्तु वह पापोंका क्षय करनेवाला है। दुःखके वियोगमें और सुखके संयोगमें सुख मिलता है। सुखके वियोगमें और दुःखके संयोगमें दुःख मिलता है। दुःख भोगते समय सुखकी इच्छा महान् दुःख देनेवाली है। सुखोपभोगके समय सुखकी आसक्ति अत्यन्त दुःखप्रद है। सुखभोगपरायणता मूढता, मलिनता और अधोगति प्रदान करनेवाली है। काम सुखमें निज सुखकी इच्छा है। एक-दूसरेके शोषणमें ही कामसुख सम्भव है। इसके विपरीत प्रेम-सुखमें निज सुखकी इच्छा या भावना नहीं हैं। उसमें एक-दूसरेका पोषण है। सुख-ही-सुख है, दुःखका नाम नहीं है। ऐसा विचारकर दृढ़तापूर्वक सुख-दुःखसे ऊपर उठकर भगवान्का होकर उनका भजन करना चाहिए। 'मैं श्रीभगवान्का हूँ और श्रीभगवान् मेरे हैं' ऐसा समझकर किया गया भजन तत्काल शान्ति प्रदान करता है।

लोगोंमें यह भावना दृढ़तापूर्वक घर कर गयी है कि भजन करते करते कभी भगवान् मिलेंगे। परन्तु शास्त्र और तत्त्वज्ञ सन्त कहते हैं : 'भगवान्का होकर उनका भजन करनेसे तत्काल ही परम कल्याण होता है।' गोस्वामी सन्त तुलसीदासजीकी वाणी है :

बिगरी जनम अनेककी, सुधरे अब ही आज।
होइ रामका भजन कर, तुलसी तजि कुसमाज॥

परमात्मा और जीवात्मा एक ही जातिके हैं। परमात्माके साथ हमारी जातिगत एवं स्वरूपगत एकता है, ऐसा अनुभव करना सर्वश्रेष्ठ भजन है।

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखरासी॥

शरीर और संसारसे 'मैं' और 'मेरेपन'का भाव हटाकर श्री भगवान्में जोड़ देना चाहिए। घर, जमीन, जायदाद आदि जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनमें से किसीके प्रति भी ममता नहीं करनी चाहिए। अपने स्वरूपको भूलकर ही मनुष्य इनसे ममता जोड़ता है। माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदिमें भी ममता करना उचित नहीं। जहाँतक बन सके, भगवत्प्रीत्यर्थं इनकी उचित सेवा करते रहनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न हो जाते हैं और उनके साथ नित्य सुखपूर्ण सम्बन्धकी स्मृति प्राप्त होती है। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है।

●

वृन्दावन !

मेरो मन वृन्दावनको वासी !
का सुख बरनौ दिव्यभूमिको जहाँ जन्मत अविनासी ॥
कुञ्ज कदम्ब करील सघन बन जहाँ विहरत सुखरासी ।
गोपी ग्वाल प्रेमरस छाके मदमाते वृजवासी ॥
सकल धाम वृजधाम बसत हैं रीझ गये कैलासी ।
लता विटप यमुनातट पनघट मुक्ति देत जिमि कासी ॥
राधे राधे जै श्रीराधे सुमिरत हैं संन्यासी ।
धन्य - धन्य वृजभूमि श्याम - रज महारासकी प्यासी ॥
ब्रह्मा, विष्णु, शेष, शुक, शारद दर्शनके अभिलासी ।
'प्रेमानन्द' मुक्ति वृन्दावन श्रीचरननकी दासी ॥

—राजयोगी स्वामी श्री प्रेमानन्दजी

राजसूय यज्ञमें अग्रपूजित भगवान् श्रीकृष्ण

आचार्य श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी

★

अति प्राचीनकालसे भारतमें यह धार्मिक परम्परा प्रचलित है कि राजसूय-यज्ञके अवसरपर उपस्थित महर्षिगण, ब्राह्मणवर्ग और राजाओंका यथायोग्य सत्कार किया जाता है। उनमें जो सर्वश्रेष्ठ तथा शक्तिशाली होता है, उस महापुरुषको सर्वप्रथम अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, जिसे 'अग्रपूजा' कहते हैं। तदनुसार महाराज युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञके प्रसंगमें अग्रपूजाके लिए शन्तनुनन्दन भीष्मपितामहने उनसे कहा : 'धर्मराज, अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो। शास्त्रोंमें आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छह को अर्घ्य देकर पूजनेयोग्य बताया गया है। यदि ये एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आयें, तो इनके लिए अर्घ्य निवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिए। ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घकालके पश्चात् पधारे हैं। अतः तुम बारी-बारीसे सबको अर्घ्य दो तथा इनमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हो, उसे सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो।'

धर्मराजने पूछा : 'दादाजी, किसकी अग्रपूजा की जाय? आप इन समागत नृपतियोंमें सबसे पहले किसे अर्घ्य निवेदन करना उचित समझते हैं?'

इस पर भीष्म पितामहने भगवान् श्रीकृष्णको ही अग्रपूजाका अधिकारी बताते हुए कहा : 'धर्मराज, इस सभामें एकत्र समस्त राजाओंके मध्य, जहाँ बृहत्तर भारतके सभी अधीश्वर उपस्थित हैं, ज्योतियोंके बीच तपते हुए भगवान् भास्करके समान अपने तेज, शौर्य, वीर्य, बल एवं पराक्रमसे वृष्णिवंशावतंस भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत हो रहे हैं। जिस प्रकार अन्धकारपूर्ण स्थान सूर्यके उदय होनेपर ज्योतिसे जगमगा उठता या निर्वात-स्थान वायुके संचारसे सजीव हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णसे यह सभा समुद्भासित एवं आह्लादित है। अतः ये ही अग्रपूजाके अधिकारी हैं :

> एष ह्येष समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
> मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
> असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
> भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥

(महाभा० सभापर्व ३६।२८.२९)

भीष्म पितामहका यह निर्णय सुनते ही सहदेवने यदुवंशकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक अर्घ्य निवेदन किया और उन्होंने भी शास्त्रीय विधिके अनुसार उसे स्वीकार कर लिया। किन्तु वसुदेवनन्दनकी इस अग्रपूजासे चेदिराज शिशुपाल क्षुब्ध होकर भीष्म और युधिष्ठिरपर स्वार्थसम्बन्धी पक्षपात एवं दुराग्रहका आरोप लगाता हुआ श्रीकृष्णके मिथ्या दोषोंका विवरण उपस्थित करते हुए कहने लगा : 'यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है। इन भूपालोंके रहते यह राजोचित पूजाका अधिकारी नहीं हो सकता। धर्मप्रिय पाण्डवोंके लिए यह विपरीत आचरण उचित नहीं। भीष्म तो बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब इनकी स्मरणशक्ति नष्ट तथा इनकी सूझ-बूझ कम हो गयी है। तभी तो इन्होंने ऐसी सम्मति दे दी कृष्ण न ऋत्विज हैं, न आचार्य हैं और न राजा ही हैं। फिर इनकी अग्रपूजा कैसे सम्भव है?'

यह सुन शान्तिपूर्ण ढंगसे समझाते हुए धर्मराजने मधुर वाणीमें कहा : 'चेदिराज, तुमने जैसी बात कह डाली हैं, वह कदापि उचित नहीं। किसीके प्रति इस प्रकार कहना महान् अधर्म है। इन नरेशोंमें कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं। जिस प्रकार ये श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुप-चाप सहन कर रहे हैं, उसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं बोलना चाहिए। पितामहका अपमान न करो। ये भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थतः जानते हैं। इन्हें श्रीकृष्णके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं।'

फिर अनुभवी भीष्मपितामहने भी शिशुपालको सान्त्वनापूर्वक समझाते हुए कहा : "शिशुपाल! श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका कारण सम्बन्धी होना नहीं, प्रत्युत इनमें विद्यमान अलोकसामान्य सद्गुणोंकी सत्ता ही है। श्रीकृष्णमें दानशीलता, दयालुता, बहुज्ञता, क्षमता, शास्त्रपरिशीलन, कीर्ति, शौर्य, वीर्य सद्बुद्धि, श्री, धृति, तुष्टि पुष्टि आदि अनन्त सद्गुण हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्र कर्म, छन्दोंमें गायत्री, मनुष्योंमें राजा, जलशयोंमें समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें सुमेरु तथा पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं; वैसे ही चराचर जगत्में भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं। अतः वे सर्वथा पूजनीय एवं अभिनन्दनीय हैं। इन्होंने अपने सद्गुणों द्वारा चारों वर्णोंके वृद्ध पुरुषोंसे महान् उत्कर्ष प्राप्त कर लिया है। ये एक साथ ही ऋत्विज, गुरु, आचार्य स्नातक, राजा एवं प्रिय मित्र सब कुछ हैं। अतः अन्य पुरुषोंके रहते हुए इनकी अग्रपूजा शास्त्रसम्मत एवं न्यायसंगत ही है :

ऋत्विग् गुरुस्तथाचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥

(सभापर्व ३८.२२)

"चेदिराज, तुम्हें भगवान् श्रीकृष्णके प्रति ऐसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिए। मैंने बहुतसे ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है और अपने यहाँ पधारे हुए सन्तोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य गुणोंका वर्णन सुना है। जन्मकालसे लेकर अब-तक श्रीकृष्णके जो रुचिर चरित्र महापुरुषोंद्वारा जनसमुदायमें कहे-सुने जाते हैं, उन सबका मैंने बार-बार मनन भी किया है। ये हमारी दृष्टिमें विश्वके समस्त प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं।

बड़े-बड़े सन्त-महात्माओंने इनकी पूजा की है। ये केवल हमारे लिए ही पूज्य नहीं, अपितु तीनों लोकोंमें अर्चनीय हैं।

"सबसे बड़ी बात तो यह है कि जैसे वेद-वेदाङ्गोंका यथार्थज्ञान ब्राह्मणोंके महत्त्वका कारण है, वैसे ही बल शौर्य, पराक्रम आदि क्षत्रियोंके गौरवका हेतु होता है। भगवान् श्रीकृष्णमें ये दोनों गुण (वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तथा सबसे अधिक बल) समान भावसे विद्यमान हैं। इसलिए सम्प्रति इस मर्त्यलोकमें श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई भी व्यक्ति नहीं है, जिसकी अग्र-पूजा की जाय" :

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ॥
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाभ्यधिकं तथा।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥

(सभापर्व ३८.१८.१९)

सञ्जय भी उस समयके विशिष्ट विद्वान्, कौरव-पाण्डवोंके हितचिन्तक तथा धृतराष्ट्रको शुभमन्त्रणा देनेवाले एक अनुभवी गण्य-मान्य व्यक्ति थे। उन्होंने भी भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र-चित्रण करते हुए महाभारतके उद्योगपर्वमें कहा है कि "यदि गौरवकी दृष्टिसे समस्त संसारकी श्रीकृष्णसे तुलना की जाय तो ये सबसे श्रेष्ठतम सिद्ध होंगे। इनमें इतनी महती शक्ति है कि ये केवल मनसे ही सम्पूर्ण विश्वको भस्मसात् कर सकते हैं।" (द्रष्टव्य: उद्योगपर्व ६७.६-७)

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्णमें ऐसे ही अद्भुत गुण थे, जिनसे आकृष्ट होकर कौरव-पक्षके अनुयायी भीष्मपितामह तथा सञ्जयने भी उनका इस प्रकार मनोहर विश्लेषण किया है। यदि पाण्डव-पक्षका कोई व्यक्ति होता, तो वह मिथ्या, प्रशंसाका दोषी भी ठहराया जा सकता। भीष्म एवं सञ्जयके वचनोंमें पक्षपातकी गन्ध भी नहीं है।

शिशुपालके लिए भीष्म पितामह और सञ्जयके प्रमाण एवं युक्तिसे पूर्ण वचन आगमें घी का काम कर गये। वह भगवान् श्रीकृष्णपर गालियोंकी वर्षा करने लगा। लेकिन इस अवसर-पर भगवान् श्रीकृष्णकी सहिष्णुता पराकाष्ठातक पहुँच गयी। वे कुछ भी नहीं बोल रहे थे। कृष्णके बाद वह टूट पड़ा भीष्म पितामहपर। वह अनेक पक्षपातभरी बातोंका हवाला देकर उन्हें कोसने लगा—यद्यपि भीष्मने अपने पक्षके समर्थनमें अनेक अकाट्य युक्तियाँ दी थीं और विशेष तर्क भी उपस्थित किये थे।

उस समय श्रीकृष्णका मौनावलम्बन उनकी परम सहिष्णुताका प्रतीक है। श्रीकृष्णकी मौनमुद्रा तब टूटी जब अपनी बुआ (शिशुपालकी माता श्रुतश्रवा) से की गयी चेदिराजके सौ दोषोंको क्षमा करनेकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी। शिशुपाल आक्षेपपूर्ण दुर्वचनोंसे दहाड़ता युद्धके लिए डट गया, तब भगवान् श्रीकृष्णने समस्त राजाओंसे गम्भीर वाणीमें कहा : "भूपालो, यह शिशुपाल है तो यदुकुलकी कन्याका ही पुत्र है, पर उसी अपने मातृकुलसे सदा शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कोई अपराध नहीं किया, तो भी यह दुर्बुद्धि उन्हींके अहितमें हमेशा लगा

रहता है। यह महाद् मातृकुलद्रोही है। मैं अपनी बुआके सन्तोषके लिए ही इसके इतने कटु अपराधोंको सहन कर रहा हूँ। आप लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे प्रति कैसा असह्य दुर्व्यवहार कर रहा है। अब मैं क्षमा नहीं कर सकूँगा।"

भगवान् श्रीकृष्णने मन ही मन अपने महास्त्र सुदर्शनचक्रका स्मरण किया। स्मरण करते ही वह उनके हाथमें आ गया। तब उन्होंने उच्चस्वरसे उन नरेशोंको सम्बोधित करते हुए कहा : "महीपालो! सुन लीजिये, मैंने अ तक इसके असभ्य अपराधोंको क्यों सहन किया? इसकी माताके प्रार्थना करनेपर मैंने उसे वरदान दे रखा था कि शिशुपालके एक सौ अपराधोंको क्षमा कर दूँगा। वे सौ अपराध पूरे हो गये। अतः अब आप लोगोंके देखते-देखते मैं इसका वध किये देता हूँ।"

यह कहकर कुपित हुए भगवान् श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्रसे तत्काल शिशुपालका शिर उड़ा दिया—और वह धराशायी हो गया।

वस्तुतः भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रतिज्ञाके पालनमें अद्वितीय महापुरुष थे, जिसका संकेत स्वयं उन्होंने शान्तिप्रयास-यात्राके प्रसंगमें अपना केशपाश दिखाकर बिलखती द्रौपदीको आश्वासन देते हुए उद्योगपर्वमें किया है : 'कृष्णे, रोओ मत। मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, यदि कौरव मेरे शान्तिप्रस्तावको स्वीकार नहीं करेंगे तो धर्मराज युधिष्ठिर हस्तिपुरके राजा होंगे तथा तुम बनोगी उनकी महारानी। भले ही आकाश गिर जाय, हिमालय चूर्ण-चूर्ण होकर धराशायी हो जाय, पृथ्वी टुकड़े-टुकड़े हो जाय और अगाध समुद्र सहसा सूख जाय, पर मेरी प्रतिज्ञा असत्य नहीं हो सकती।

सत्यं ते प्रतिजानामि कृष्णे! बाष्पं निगृह्यताम्।
हतामित्राञ् श्रिया युक्तानचिराद् द्रक्ष्यसे पतीन्॥
(उद्योग पर्व ८२।४९)

ठीक हुआ भी वैसा ही, भगवान् श्रीकृष्णकी सत्यप्रतिज्ञाके अनुसार इधर शिशुपाल मारा गया तो उधर दुराग्रही दुर्योधनका कुलसहित निधन हुआ। परिणामतः धर्मराजको राज्यश्री प्राप्त हुई तथा द्रुपदराजपुत्री कृष्णा पटरानी बनी।

मध्व-सम्प्रदाय में मुक्ति का स्वरूप

डा० किशोरदास स्वामी

★

शंकराचार्यने केवल सायुज्यमुक्तिको ही वास्तविक मुक्ति माना और यह बतलाया है कि उस दशामें जीव और ब्रह्मका अभेद हो जाता है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजने मोक्ष-दशामें जीव और ब्रह्मका अभेद स्वीकार किया है, पर साथ ही साथ किसी सम्बन्धविशेषके कारण आंशिक भेद भी माना है। किन्तु मध्वाचार्यने मोक्ष दशामें भी जीव और ब्रह्मका भेद सिद्ध किया है। इनका कहना है कि जीव और ब्रह्मके भेदका निरूपण करना ही सारे उपनिषदोंका मुख्य प्रयोजन है। यही कारण है कि मध्वने विशेष रूपसे दृश्यमान जड़-चेतनात्मक पदार्थोंकी विविधता या भेदका ही प्रतिपादन किया है उनके मतसे मोक्ष-दशामें भी जीव और ईश्वरका भेद बना रहता है। कहा भी है :

देहादेस्तात्त्विकाद् भेदं सत्यमात्मन्यजानताम्।
मुमुक्षूणां न मोक्षोऽस्तीत्यतो भेदो निरूप्यते।
न सा धीः क्वचिदप्यस्ति यत्र भेदो न भासते॥[1]

(देह, इन्द्रिय आदिसे आत्मा भिन्न है, यह बात सत्य है। जो इसे नहीं जानते, उनका चाहनेपर भी मोक्ष नहीं होता। अतः भेदका निरूपण किया जाता है। संसारमें ऐसी कोई प्रतिमा नहीं, जिससे भेद की प्रतीति न होती हो।)

संसारमें दिखायी देनेवाले घट-पट आदि पदार्थ एक दूसरेसे भिन्न हैं। उनके स्वरूपसे यह भेद जाना जाता है। यदि भेद सत्य न हो, तो संसारके पदार्थ, रूप, वर्ण, आकार आदिसे विलक्षण प्रतीत नहीं होने चाहिए। यदि विविधरूपसे प्रतीत होनेवाले पदार्थोंकी सत्ता न मानी जाय, तो लोक-व्यवहार भी नहीं बनता। आध्यात्मिक-विचारणामें भी ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि भेद बना ही रहता है। अतः परस्पर विरोधी धर्मोंवाले पदार्थ भेदसिद्धिमें सहायक हैं। जैसे 'घट पट नहीं है' अन्यका अन्यसे भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। अपने-अपने गुणधर्मोंके कारण ही सब पदार्थोंकी अपनी-अपनी विशेषता है और वे एक दूसरेसे भिन्न हैं।

अनुमान प्रमाण द्वारा भी यह भेद सिद्ध होता है :

भेदः प्रमाविषयः, ज्ञानविषयत्वात्, यदेवं तदेवं यथा ब्रह्म, तथा चायं तस्मात्तथा।[2]

---

१. भेदरत्नम्, पृ० १।
२. भेदरत्नम्, पृ० २८;

अर्थात् भेद प्रमाका विषय है, ज्ञानका विषय होनेसे, जो-जो ज्ञानका विषय होता है, वह सब सत्य होता है, जैसे ब्रह्म, वैसे यह भी है, इसलिए भेद सत्य है।

आगमने भी इस वस्तु-भेदको सत्य बतलाया है :

सत्यं भेदस्तु वस्तूनां स्वरूपं नात्र संशयः।

(वस्तुओंका भेद सत्य है, इसमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं) अतः प्रपञ्च-भेद मिथ्या न होकर तात्त्विक है। भले ही सीपीमें रजत और रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति हो, पर सीपी और रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेपर सीपी और रजतका तथा रस्सी और सर्पका भेद मिटाया नहीं जा सकता। सर्प भिन्न है और रस्सी भिन्न है। इसी प्रकार सीपी और चाँदी भी दो अलग-अलग वस्तुएँ हैं। अतएव श्रुतिद्वारा जीव और ब्रह्मका भेद प्रतिपादित किया गया है।

ईश्वरसे भिन्न जीव ही बन्धको प्राप्त होता है। बन्ध औपचारिक या मिथ्या न होकर सत्य है। इसकी निवृत्ति होनेपर ही जीव मुक्त हो सकता है। मुक्त जीव ब्रह्म नहीं बन जाता, बल्कि वह ईश्वरके आश्रित होकर रहता है। इसीलिए कहा गया है :

सत्यत्वात्तेन दुःखादेः प्रत्यक्षेण विरोधतः।
न ब्रह्मतां वदेद्वेदो जीवस्य हि कथञ्चन॥
सर्वज्ञत्वादिगुण जीवाद् भिन्नं ज्ञापयति श्रुतिः।
ईशं तमुपजीव्यैव वर्तते ह्यैकवादिनी॥[1]

(जीवके सुख-दुःख आदि सत्य हैं। श्रुति जीवको ब्रह्म नहीं बतलाती, क्योंकि जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट है। ईश्वर सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ। अतः 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का अर्थ है : जीव ब्रह्मके आश्रित होकर रहता है।)

यह भेद पाँच प्रकारका है : जीव-ईश्वरका, ईश्वर-जगत्का, जीव-जीवका, जीव-जगत्-का और जागतिक पदार्थोंका अंशांशिभावरूप भेद। यह भेद सत्य और अनादि है। यदि यह सादि होता तो नष्ट हो जाता। पर नष्ट नहीं होता; इसलिए यह भ्रान्ति-कल्पित नहीं है :

जीवेशयभिदाश्चैव जडेश्वरभिदा तथा।
जीवभेदो मिथश्चैव जड-जीवभिदास्तथा॥
मिथश्च जडभेदोऽयं प्रपञ्चो भेदपञ्चकः।
सोऽयं सत्यो ह्यनादिश्च सादिश्चेन्नाशमाप्नुयात्॥
न च नाशं प्रयात्येष न चासौ भ्रान्तिकल्पितः॥[2]

भगवान्ने भी गीतामें कहा है : 'जो व्यक्ति भेद-ज्ञानका आश्रयण करके, मेरी शरण आ जाते हैं, वे संसारके आविर्भावकालमें उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें उन्हें कोई कष्ट नहीं होता' :

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

---

१. अणु-व्याख्यानम्, श्लो० ३७।

२. विष्णुतत्त्वनिर्णयः, पृ० १४।

भगवती श्रुतिका भी यह वचन है :

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तेनामृतत्वमेति॥

(जीव जब ऋषि-मुनियोंद्वारा सेवित उस परमात्माको अपनेसे भिन्न देखता है और उसकी महिमाको जानता है, तो वह शोकसे रहित हो जाता है। अपनेको और प्रेरणा करनेवाले परमात्माको पृथक् जानकर, उसमें प्रीति रखते हुए या उसकी सेवा करते हुए ही जीव अमरपद प्राप्त कर सकता है।)

अद्वैतवादी आचार्य यह तर्क देते हैं कि "द्वैतबुद्धि प्रमात्मिका न होकर भ्रमात्मिका है। जबतक भ्रम बना रहेगा तबतक परम तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे चन्द्रमा एक है, पर आंखको दबानेसे या चक्षुरिन्द्रियके दोषसे दो चन्द्रमाओंका दिखायी देना मिथ्याज्ञान ही माना जाता है। उसी प्रकार जबतक जीव और ब्रह्मका द्वैतभाव बना रहेगा तबतक मोक्ष नहीं होगा।' पर अद्वैतियोंका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि जीव और ईश्वरका भेद न तो किसी मायावी पुरुष द्वारा उत्पन्न किया गया है और न वह काल्पनिक है; अपितु वह नित्य और अनादि है। ज्ञानवान् पुरुष जब पुण्य पापसे रहित हो जाता है, तो बन्धके कारण-भूत किसी हेतुके न रहनेसे उस परमात्माके समान हो जाता है : **विद्वान् पुण्य-पापे विधूय, निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।** इस अवस्थामें जीव ब्रह्मकी सत्ताके अधीन सत्तावाला हो जाता है, पर उसकी पृथक् सत्ताका लोप नहीं होता। जैसे यदि दूधमें जल मिला दिया जाय तो वह अपने गुण-धर्मोंको नहीं छोड़ेगा। जलमें तरलता और शीतलता आदि गुण हैं तो दूधमें सफेदी, मधुरता और सघनता। ऊपरसे एक दिखायी देनेपर भी ये पृथक्-पृथक् हैं। उसी प्रकार मोक्ष-दशामें भी जीव और ईश्वरका भेद बना ही रहता है।

यदि अद्वैतवादी आचार्य यह कहें कि "**जीवो ब्रह्मैव नापरः** (जीव ब्रह्म ही है, वह उससे भिन्न नहीं) और वह ब्रह्म एक है तथा सजातीय-विजातीय एवं स्वगत भेदरहित है : **एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म।** जो भेदबुद्धि रखता है वह बार-बार मृत्युको प्राप्त होता है। **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** आदि श्रुतियाँ अभेदकी प्रशंसा तथा भेदकी निन्दा करती हैं?" तो इन श्रुतियोंकी विरोधी श्रुतियाँ भी मिलती हैं। जैसे : **एकाकी न रमते** (अकेला ब्रह्म रमण नहीं करता) **एकाकी बिभेति** (अकेला तो भयभीत होता रहता है) आदि वेदवचन अभेदकी निन्दा ही करते हैं। अतः ब्रह्मके अधीन जीवकी सत्ता है, यह बतलाना ही उन अद्वैतपरक श्रुतियोंका तात्पर्य है।

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि दुःखके कारण हैं। ये सब आत्मासे भिन्न हैं। अतएव कहा गया है :

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
यथैव बद्ध्यते मत्स्यस्तथैवैषोऽनुबध्यते।
सस्नेहसहवासाच्च साभिमानाच्च नित्यशः॥

यदा तु मन्यतेऽन्योऽहं मम एष इति द्विज।
तदा स केवलीभूतः.........................॥[1]

(शरीरके अन्दर रहनेवाला जीव चेतन है। जब वह जान लेता है कि मैं ही आत्मा हूँ, तो किस इच्छाके लिए और किस कामनाके लिए शरीर-अध्यास करेगा ? जीव सदैव वैषयिक अनुराग, सहवास तथा अभिमानके कारण ही बन्धको प्राप्त होता है। जब वह जान लेता है कि मैं उस परमात्मासे भिन्न हूँ और अहंकार आदि शरीरके धर्म हैं, तो वह मुक्त हो जाता है।)

इस प्रकार शास्त्रप्रमाणद्वारा भेद सत्य सिद्ध होता है। अतएव

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥

आदि उक्तियोंका यही अर्थ है कि **प्रपञ्चो विद्येत**=यदि प्रपंच उत्पन्न होता तो निवृत्त होता, पर उसकी निवृत्ति देखनेमें नहीं आती। उसका प्रवाह तो अनादिकालसे चलता रहता है। पाँच प्रकारके भेद-विस्तारका नाम ही 'प्रपंच' है। उसका कभी विलोप नहीं होता और वह मायामात्र है। माया-पद अज्ञानका पर्याय नहीं; अपितु भगवान्‌की प्रज्ञाका वाचक है। जैसा कि कहा गया है : **मायेति भगवत्प्रज्ञा सैव मानत्राणकर्त्री यस्य तन्मायामात्रम्।**[2] (माया भगवत्प्रज्ञाका नाम है। वही अहंकारसे जीवकी रक्षा करती है, इसलिए सब मायामात्र है)

बिना ईश्वरकी मायाके जीवकी रक्षा नहीं हो सकती। ईश्वर ही मायाद्वारा जीवकी रक्षा करते हैं। अतः दोनोंमें परमार्थतः भेद है। एक रक्षक है तो दूसरा रक्षित। **अद्वैतं परमार्थतः**=परमार्थ-तत्त्वकी अपेक्षासे ही अद्वैतकी भावना सर्वोपरि है। अर्थात् सभी भावपदार्थोंके मध्य एक विष्णु ही परम तत्त्व हैं।

विष्णु-तत्त्वका निरूपण

उपर्युक्त ब्रह्मस्वरूप ये विष्णु केवल भक्तिप्रवण अन्तःकरणद्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। वे अपने अनुग्रहसे भक्तोंको मुक्त करते हैं, अज्ञानियोंको ज्ञान देते हैं, ज्ञानियोंको मोक्ष देते हैं और मुक्त पुरुषोंको आनन्द देते हैं। वे ही कर्मोंके अनुसार जीवोंको संसार-बन्धनसे आबद्ध और मुक्त करते हैं। परब्रह्म विष्णु ही कैवल्य प्रदान करनेवाले हैं; इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं :

अज्ञानां ज्ञानदो विष्णुर्ज्ञानिनां मोक्षदश्च सः।
आनन्ददश्च मुक्तानां स एवैको जनार्दनः॥
बन्धको भवपाशेन भवपाशाच्च मोचकः।
कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव न संशयः॥[3]

---

१. भेदसिद्धिः, पृ० ११।
२. विष्णुतत्त्वनिर्णय, पृ० १३।
३. विष्णुतत्त्वनिर्णयः।

ये ही वैकुण्ठाधिपति विष्णु नानारूपोंमें अवतार धारण करते हैं। जिस प्रकार स्वर्णकार एक ही स्वर्णसे नाना प्रकारके आभूषण बना देता है, उसी प्रकार परमात्मा मुक्त पुरुषोंके भोगके लिए कल्याण करनेवाला महान् रूप धारण करते हैं : **स्वर्णकारः सुवर्णवत् परमात्मा मुक्तानां स्वेच्छयैव भोगार्थं कल्याणतमं महद्रूपं करोति।**[1] उस विष्णुको जान लेनेपर जीव मुक्त हो सकता है। अतः वैकुण्ठाधिपति विष्णु ही सेवनीय हैं।

विष्णुकी भक्ति ही मुक्तिका साधन है। विष्णुकी कृपाके बिना, यथार्थ बन्धकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः विष्णुको प्रसन्न करनेकी जिज्ञासा रखनी चाहिए। जिस प्रकार प्रसन्न राजा अपनी कृपा-दृष्टिसे कैदीको कारागारसे मुक्त कर देता है, उसी प्रकार प्रसन्न विष्णु अपने भक्तको मोक्ष प्रदान करते हैं :

अतो यथार्थबन्धस्य विना विष्णुप्रसादतः।
अनिवृत्तेस्तदर्था हि जिज्ञासाऽत्र विधीयते।
यथा दृष्ट्या प्रसन्नः सन् राजा बन्धापनोदकृत्॥[2]

जीवको यह शंका नहीं करनी चाहिए कि भक्ति अनुरागरूपा है और अनुराग बन्धका कारण होता है, अतः भक्तिद्वारा मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? क्योंकि शास्त्रका यह वचन है कि सभी अनुराग बन्धका कारण नहीं होते। अनुरागमें भी भेद होता है। जिस प्रकार अपनी भार्याके साथ अभिगमन करना शास्त्रविहित होनेसे पुण्यकारण होता है और परदाराके साथ अभिगमन शास्त्रनिषिद्ध होनेसे पापका कारण माना जाता है, उसी प्रकार राग बन्धनका कारण होनेपर भी मुक्तिविषयक राग बन्ध उत्पन्न नहीं करता। वैषयिक राग ही बन्धका कारण होता है। अतःएव कहा गया है : 'देवताको प्रसन्न करनेकी कामना, चित्त-शुद्धिकी कामना तथा मोक्षकी कामना, ये सब कामनाएँ होनेपर भी कामना नहीं कही जातीं' :

देवप्रसादकाम्या च चित्तशुद्धेश्च कामना।
मोक्षस्य कामना चेति कामनेयं न कामना॥[3]

माध्व-सम्प्रदायमें भास्कर आदि कुछ अन्य-अन्य आचार्य हैं, उन्होंने भक्तिको मोक्षका साधन न मानकर, ज्ञान-कर्म-समुच्चयको ही मुक्तिका साधन माना है। पर ज्ञान और कर्मका मार्ग भिन्न-भिन्न होनेसे इनके समुच्चयसे मोक्ष नहीं होता। जैसे :

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।

('क्षत्रियके लिए युद्ध करना धर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य उपायसे उसका मोक्ष नहीं हो सकता') यहाँ कर्ममार्गका उपदेश है। **एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ** ('हे अर्जुन ! यह जीवकी ब्रह्मके समान स्थिति है') इस वाक्यमें ज्ञान-मार्गका प्राधान्य है। अतः ब्रह्म-ज्ञानको कर्मकी अपेक्षा नहीं है। वह तो ज्ञान है। जैसे सीपी आदिका ज्ञान तो होता है, पर उसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं रहती। यदि जीव निषिद्ध कर्मोंका परित्याग कर विष्णुको प्राप्त

१. मध्वसिद्धान्तसारसंग्रहः, पृ० २२९।
२. अणुव्याख्यानम्; ४०–४१।
३. न्यायचन्द्रिका भूमिका, पृ० १३८।

करनेके लिए श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करता है, तो समुचित ही है। भगवान्ने कहा ही है ('मुझमें मन लगाओ')। अतः कर्मत्यागका अर्थ है निषिद्ध कर्मोंका परित्याग करना। भक्ति तो भगवान्के समीप पहुँचानेवाला आन्तरिक कर्म है, अतः मुमुक्षुको उसका अनुष्ठान करना चाहिए।

मोक्षका स्वरूप

इस प्रकार भक्ति साधनका आश्रय लेनेपर जीवको विष्णुका साक्षात्कार हो जाता है। उसके समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। उसे नित्य आनन्दकी प्राप्ति होती है। अपरोक्ष ज्ञान होनेपर परम-भक्तिका उत्कर्ष होता है। यह जीवको नितान्त शुद्ध अवस्था है। इसमें प्रकृति, अविद्या आदिसे मोक्ष मिल जाता है : **अपरोक्षज्ञानानन्तरं परमभक्तिर्जायते, ततोऽत्यर्थप्रसादः, तस्मात् प्रकृत्याऽविद्यादिभ्यो मोक्षः।**[1]

यह मोक्ष चार प्रकारका है : कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चि आदि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकारका है : भगवान्के लोकमें मिलनेवाला : 'सालोक्य'। भगवान्के समीप मिलनेवाला : 'सामीप्य'। भगवान्के समान रूप धारण करके भोगा जानेवाला : 'सारूप्य' तथा सायुज्य भोग। सायुज्य-भोगका अर्थ है, मोक्षदशामें देह, इन्द्रिय आदि न रहनेपर भी दिव्यानन्दका अनुभव करना। क्योंकि जीव दो प्रकारकी उपाधियोंसे घिरा रहता है। प्रथम उपाधि पाञ्च भौतिक शरीर है और दूसरी उपाधि, ईश्वरसे भिन्न उसका शुद्ध चैतन्यस्वरूप। मुक्तिकालमें भौतिक देहका पतन हो जाता है और जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है। उस समय वह चेतन देहसे ही भगवान् द्वारा प्रदान किये गये भोगोंको भोगता है। प्राकृतिक अथवा मायिक उपाधियोंसे रहित हो जाता है। अतः एव कहा है :

जीवोपाधिर्द्विधा प्रोक्तः स्वरूपं बाह्य एव च।
बाह्योपाधिर्लयं याति मुक्तावन्यस्य तु स्थितिः॥[2]

('जीवकी दो उपाधियाँ बतलायी गयी हैं, एक तो अपना रूप और दूसरा बाह्य रूप— पाञ्चभौतिक शरीर। मुक्तिमें बाहरी उपाधिका लय हो जाता है, पर स्वरूपोपाधि शेष रह जाती है।') और भी कहा गया है :

मर्त्यं देहं परित्यज्य चितिमात्रात्मदेहिनः।
भुञ्जते ते सुखान्येव न दुःखादीन् कदाचन॥[3]

('इस मर्त्य देहको छोड़कर जीव चिन्मात्र देह धारण करता है। तब वह सुखोंका ही उपभोग करता है, दुःखोंका नहीं।')

इस प्रकार विष्णुकी कृपासे मुक्ति प्राप्त करके जीव, आनन्दमात्रका उपभोग करते हैं। किन्तु जीवोंमें भेद होनेके कारण मुक्तिके आनन्दमें कुछ तारतम्य बना रहता है। यह विषमता भक्तिरूप साधनके न्यूनाधिकभावसे उत्पन्न होती है। इसमें भी मानव और देवताओंके मुक्तिसुखमें कुछ अन्तर माना गया है। बस, यही मध्वाचार्यसम्मत मुक्तिका स्वरूप है।

१. मध्वसिद्धान्तसारसंग्रहः, पृ० २११।
२. तत्त्वप्रकाशिका; पृ० ११९।
३. ,, ,, पृ० ५५४।

तत्त्व-चिन्तन :

जैन-दर्शनमें ध्यान-विचार

डा० दरबारीलाल कोठिया

★

यों तो सभी धर्मों और दर्शनोंमें ध्यान, समाधि या योगका प्रतिपादन है। योगदर्शन तो उसीपर आधृत है और योगके सूक्ष्मचिन्तनको लिये हुए हैं। पर योगका लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धि-सिद्धियोंकी उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्तिके लिए योगाराधन करता है। योगद्वारा ऋद्धि-सिद्धियोंको प्राप्त करनेका प्रयोजन भी प्रभाव-प्रदर्शन, चमत्कार-दर्शन आदि है। मुक्ति-लाभ भी योगका एक उद्देश्य है, पर वह है गौण।

जैन-दर्शनमें ध्यानका लक्ष्य मुख्यतया कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा है और इन दोनोंके द्वारा अशेष कर्म-मुक्ति प्राप्त करना है। यद्यपि योगीको अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उसके योग-प्रभावसे उपलब्ध होती हैं, पर वे उसकी दृष्टिमें प्राप्य नहीं, मात्र आनुषङ्गिक हैं। उनसे उसको न लगाव होता है और न उनके लिए वह ध्यान करता है। वे तथा अन्य स्वर्गादि अभ्युदय उसे उसी प्रकार मिलते हैं, जिस प्रकार चावलोंके लिए खेती करनेवाले किसानको भूसा अप्रार्थित मिल जाता है। किसान भूसा प्राप्त करनेका न लक्ष्य रखता है और न उसके लिए प्रयास ही करता है। योगी भी योगका आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जराके लिए करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियोंमें उलझता है—उनमें लुब्ध होता है तो वह योगके वास्तविक लाभसे वंचित हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वातिने[1] स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्म निरोध) और कर्म-निर्जरा होते हैं। आचार्य रामसेन[2] भी अपने तत्त्वानुशासनमें ध्यानको संवर तथा निर्जराका कारण बतलाते हैं। इन दोनोंसे समस्त कर्मोंका अभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।[3] इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शनमें ध्यानका आध्यात्मिक महत्त्व मुख्य है।

ध्यानकी आवश्यकतापर बल देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं[4] कि मुक्तिका उपाय

---

१. 'आस्रव निरोधः संवरः' 'तपसा निर्जरा च'। (त०सू० ९-१, ३)

२. 'तद् ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्।' (तत्त्वानु० ५६)

३. 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।' (त० सू० १०.२)

४. दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥ (द्रव्यसंग्रह ४७)

रत्नत्रय है और यह रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चयकी अपेक्षा दो प्रकारका है। यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय ध्यानसे ही उपलभ्य है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुनिको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। तत्त्वार्थसरकार अमृतचन्द्र[1] भी यही कहते हैं। यथार्थमें ध्यानमें जब योगी अपनेसे भिन्न किसी दूसरे मन्त्रादि पदार्थका अवलम्बन लेकर उसे ही अपनी श्रद्धा, ज्ञान और आचरणका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गी होता है और जब केवल अपने आत्माका अवलम्बन लेकर उसे ही श्रद्धा, ज्ञान और चर्याका विषय बनाता है तब वह निश्चय मोक्षमार्गी होता है। अतः मोक्ष प्राप्त करानेवाले रत्नत्रयरूप मार्गपर आरूढ़ होनेके निमित्त योगीके लिए ध्यान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

मनुष्यके चिरन्तन संस्कार उसे विषय और वासनाओंकी ओर ही ले जाते हैं और इन संस्कारोंकी जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन भी उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि उन्हें न जाने योग्य स्थानमें भी जाना पड़ता है। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मनका अपनेको गुलाम बनाकर तदनुसार उचित-अनुचित सब प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेषकी भट्ठीमें जलता और कष्ट उठाता है। आचार्य अमितगतिने ठीक लिखा है कि संयोगके कारण जीव[2] नाना दुःखोंको पाता है अगर वह इस तथ्यको समझ ले; तो उस संयोगके छोड़नेमें उसे एक क्षण भी न लगे। तत्त्वज्ञानसे क्या असम्भव है? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही ध्यान है। अतः ध्यानके अभ्यासके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मनपर नियन्त्रण। जबतक दोनोंपर नियन्त्रण न होगा तबतक मनुष्य विषय-वासनाओंमें डूबा रहेगा और उनसे कष्टोंको भोगता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसीको इष्ट नहीं है। सभीको सुख और शान्ति इष्ट है। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्यको सत्संगति या शास्त्रज्ञानसे उक्त तथ्यको समझकर विषय-वासनाओंमें ले जानेवाली इन्द्रियों और मनपर नियन्त्रण करना जरूरी है। जब इन्द्रिय और मन नियन्त्रित रहेंगे, तो मनुष्यकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य होगी, क्योंकि वे निर्विषय नहीं रह सकते। आत्मा उनका विषय हो जानेपर स्वाधीन सुख और शान्तिकी उत्तरोत्तर अपूर्व उपलब्धि होती जायगी।

यह सच है कि इन्द्रियों और मनपर नियन्त्रण करना सरल नहीं, अतिदुष्कर है। फिर भी यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्यमें यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्यके लिए अतिदुष्कर होता है, वह असामान्य मनुष्य-के लिए सम्भव होता है और वह उसे कर डालता है। अतः इन्द्रियों और मनपर नियन्त्रण करनेमें आरम्भमें भले ही कठिनाई दीखे, पर संकल्प और दृढ़ताके साथ निरन्तर प्रयत्न

---

१. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ (तत्त्वार्थ०)

२. संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम्॥ (सामयिक०)

करनेपर उस कठिनाईपर विजय पा ली जाती है। इन्द्रियों और मनपर काबू पानेके लिए अनेक उपाय बताये गये हैं। उनमें प्रधान दो उपाय हैं : १. परमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। परमात्म-भक्तिके लिए पंच परमेष्ठीका जप, स्मरण और गुणकीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (**नान्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम**) माना जाय। इससे आत्मामें विचित्र प्रकारकी शुद्धि आयेगी। वाणी और मन निर्मल होंगे और उनके निर्मल होते ही वह ध्यानकी ओर झुकेगा तथा ध्यानद्वारा उपर्युक्त द्विविध मोक्षमार्ग प्राप्त करेगा। परमात्म-भक्तिमें उन सब मन्त्रोंका जप किया जाता है जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि और या सभीको जपा जाता है। आचार्य विद्यानन्दने[1] लिखा है कि परमेष्ठीकी भक्ति (स्मरण, कीर्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्गकी संसिद्धि होती है। इसीसे उनका स्तवन करना बड़े-बड़े मुनिश्रेष्ठोंने बतलाया है।

इन्द्रियों और मनको वशमें करनेका दूसरा उपाय है श्रुतज्ञान। यह श्रुतज्ञान सम्यक् शास्त्रोंके अनुशीलन, मनन और सतत अभ्याससे प्राप्त होता है। वास्तवमें जब मनका व्यापार शास्त्र-स्वाध्यायमें लगा होगा—उसके शब्द और अर्थके चिन्तनमें संलग्न होगा तब वह अन्यत्र जायगा ही कैसे? और जब वह नहीं जायगा तो इन्द्रियाँ उस अग्निकी तरह ठण्डी (राख) हो जायँगी जो इंधनके अभावमें राख हो जाती हैं। वस्तुतः इन्द्रियोंको मनके व्यापारसे ही खुराक मिलती है। इसीलिए मनको ही बन्ध और मोक्षका कारण कहा गया है। शास्त्र-स्वाध्याय मनको नियन्त्रित करनेके लिए एक अमोघ उपाय है। सम्भवतः इसी लिए **स्वाध्यायः परमं तपः**—स्वाध्यायको परम तप कहा है।

ये दो मुख्य उपाय हैं इन्द्रियों और मनको नियन्त्रित करनेके। इनके नियन्त्रित हो जानेपर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओरसे चित्तकी वृत्तियोंको रोककर उसे एकमात्र आत्मामें स्थिर करनेका नाम ही ध्यान है। जबतक चित्तको एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तबतक न आत्मदर्शन होता है, न आत्मज्ञान और न आत्मामें आत्माकी चर्या। फिर जबतक ये तीनों प्राप्त नहीं होते तबतक दोष और आवरणोंकी निवृत्ति भी सम्भव नहीं। अतः योगी ध्यानद्वारा चित् और आनन्द-स्वरूप होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है। आचार्य रामसेन[2] लिखते हैं कि जिस प्रकार सतत अभ्याससे महाशास्त्र भी अभ्यस्त एवं सुनिश्चित हो जाते हैं, उसी प्रकार निरन्तर ध्यानाभ्याससे ध्यान भी अभ्यस्त एवं सुस्थिर हो जाता है। वे योगीको ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं।

'हे योगिन्! यदि तू संसार-बन्धनसे छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

---

१. श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः॥ (आप्तपरीक्षा, २)

२. यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम्॥ (तत्त्वा०, ८८)

और सम्यक्‌चरित्ररूप रत्नत्रयको ग्रहणकर बन्धके कारणरूप मिथ्यादर्शनादिके त्याग-पूर्वक निरन्तर सद्ध्यानका अभ्यास कर।'

'ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहका नाश करनेवाला चरम-शरीरी योगी तो उसी पर्यायमें मुक्ति प्राप्त करता है और जो चरम शरीरी नहीं है, वह उत्तम देवादिकी आयु प्राप्तकर क्रमशः मुक्ति पाता है। यह ध्यानकी ही अपूर्व महिमा है' :

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम्।
ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन्! मुमुक्षसे॥
ध्यानाभ्यास-प्रकर्षेण त्रुह्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात्॥

—आ. रामसेन, तत्त्वानुशासन २२३-२४।

निःसन्देह ध्यान एक ऐसी चीज है, जो परलोकके लिए उत्तम पाथेय है। वह इस लोकको भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनोंके लिए अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार उपयोगी है। यदि भारतवासी इसके महत्त्वको समझ लें, तो वे पूर्व ऋषियोंके प्रभावपूर्ण आदर्शको विश्वके सामने सहज ही उपस्थित कर सकते हैं। इसके अनुसरणसे जितेन्द्रिय और मनस्वी सन्तानें होंगी तथा परिवार-नियोजन, आपाधापी, संग्रह-वृत्ति आदि अनेक समस्याएँ अनायास सुलझ सकती हैं।

●

ब्रह्म संस्पर्श

भोगसंस्पर्शसे प्राप्त होनेवाला इन्द्रियसुख आगमापायी और दुःखोत्पादक है। सच्चासुख तो ब्रह्मसंस्पर्शमें है। जो निर्मल और सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करता है, वह धन्य है। केवल बुद्धि और मन-ही-नहीं, जिसका नेत्र, श्रोत्र, नासिका आदि प्रत्येक इन्द्रिय, शरीरका एक-एक रोम ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाता है, वह पुरुष परम धन्य है।

[गीता० अ० ५]

सुख क्या है ?

अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

★

आइये, सुखका साक्षात्कार करें। उससे मिलें और उसका उपभोग करें। कहाँ ? कब ? कैसे ? यहीं, अभी और ऐसे।

विषय-भोगसे सुख मिलेगा—यह कल्पना मनसे निकाल दीजिये। उसमें बड़ी पराधीनता है। पराधीनता तो दुःख है। भोग्य वस्तु चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, कभी मिलेगी, कभी नहीं। कहीं रहेगी, कहीं नहीं। उस भोग्य वस्तुके भोगकी सामर्थ्य इन्द्रियोंमें सर्वदा नहीं रहेगी। मनमें एक-सी रुचि भी नहीं होगी। अनेक अवस्थाओंमें भोक्ता भी मूर्च्छित हो जायगा। रोग, शत्रु-मित्र, कर्म, प्रकृति, ईश्वर—सभी उसमें बाधक हो सकते हैं। यदि विषय-भोगमें आप सुखकी स्थापना कर देंगे, तो निश्चय ही आपको परवश और दुःखी होना पड़ेगा।

दूसरी बात ! आपके पास जन, धन, भवन आदिकी संख्या कितनी है ? कहीं आप उनके अभिमानसे फूले-फूले तो नहीं फिरते ? अपने सौन्दर्य-माधुर्य, शौर्य-औदार्य, विद्या-बुद्धिके सम्मुख दूसरोंको दीन-हीन समझकर उनका तिरस्कार तो नहीं करते ? आपको पुण्यात्मापनका अभिमान है, तो पापीका तिरस्कार कर बैठेंगे और आपका हृदय रूक्ष एवं कठोर हो जायगा। फिर वह म्लान और ग्लान भी होगा। सुख-रसके आस्वादनकी योग्यता नहीं रहेगी। अभिमानपर ही चोट पड़ती है और व्यथाकी उत्पत्ति होती है। अतः जीवनको सुखमय बनानेकी कुंजी है : उत्तमसे उत्तम विषय-भोग, कर्म, वृत्ति, स्थिति और अनुभवका भी अभिमान न करना !

ध्यान दीजिये, आपके मनोराज्यकी दिशा कौन-सी है ? क्या वह अतीतकी ओर देख-देखकर वर्तमानकी श्रेष्ठता या कनिष्ठताकी तुलनात्मक समीक्षा करता है ? अजी, छोड़िये भी उसे। क्या रखा है उसमें ? वह तो बिछुड़ गया, मर गया। आपके नेत्र पीछेकी ओर नहीं बनाये गये, तो क्या आप भविष्यमें बहुत दूर-दूरकी सोचनेमें इतने मग्न हो जाते हैं और इसपर ध्यान ही नहीं जाता कि वर्तमानमें कहाँ पाँव पड़ रहे हैं ? गिरते हैं या ठोकर लगती है ? महाशय ! सँभलकर चलिये। भविष्यका भय मत कीजिये। अपने साथ भूत मत लगाइये। पीछे घूमकर मत देखिये और दूरकी देखनेमें मत लग जाइये। नरक, स्वर्ग, वैकुण्ठ जब प्राप्त होगा, तब उनसे निपट लेंगे। तृप्त होकर योजना बनाइये। दस वर्ष बाद क्या खायेंगे, यह सोचकर आज ही भूखे मत रहिये। अपने मनोराज्यको अपनी ही पार्श्व-भूमिमें रखिये। वह आपके

जितना निकट होगा—केवल स्थान, समय या वस्तुकी दृष्टिसे नहीं, अन्तरात्मा और अन्तर्यामीकी दृष्टिसे भी—आप उतने ही सुखी होंगे।

आप बार-बार क्या दुहराते हैं? आपके भाषण, संकल्प, चेष्टा, आचरण, व्यवहार, भोजन और आच्छादनमें पुनः पुनः किसका अभ्यास होता है? निश्चय ही आप अपने अभ्यस्त विषयमें रम जायँगे। आपका सुख सीमित परिधिमें बन्दी बन जायगा। आप उसके कारागारसे मुक्त नहीं हो सकेंगे। अतः सावधान रहना आवश्यक है। सतत सावधानी ही सुखी जीवनका रहस्य है।

हाँ, अब सुनिये, कामकी बात! आप अपनेको अपने ही क्रिया-कलापोंसे सम्मोहित (हिप्नोटाइज्ड) मत कीजिये। निद्रा, आलस्य, प्रमाद या मदको सुखका कारण मत समझिये। जैसे विष या आत्महत्या शारीरिक जीवनके विरोधी हैं, वैसे ही सम्मोहन और मादक पदार्थोंका सेवन बौद्ध एवं सजग जीवनके विरोधी हैं। अपनेको संयोग, पराधीनता या आकस्मिकता-पर निर्भर मत होने दीजिये। स्वतन्त्र (उच्छृङ्खल नहीं) और निर्मल जीवन बिताइये। बुद्धिका अनादर, चाहे वह दूसरेकी हो या अपनी, विचारकी क्षमताका लोप कर देता है। सच तो यह है कि सम्पूर्ण विश्वसृष्टिमें बुद्धि एक ही है। दूसरोंकी बुद्धिके अनादरसे अपनी बुद्धिका भी तिरस्कार हो जाता है। अपनी बुद्धिके तिरस्कारसे दूसरोंकी बुद्धिका भी तिरस्कार होता है। बुद्धिहीन जीवन जड़ता है। जाग्रत् बुद्धि ही सच्चा जीवन है और वही सच्चा सुख भी है। बुद्धिकी निर्मलता ही स्थिर सुखकी जननी है। अल्प मर्त्य है, भूमा सुख है। बुद्धि-भूमा ही सुख-भूमा है। भूमा अर्थात् अनन्त, अबाधित। सुखको बुद्धि-प्रसादज (गीता १८.३७) और बुद्धि ग्राह्य (गीता ६.२१) कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सुखकी माँ है बुद्धिकी निर्मलता, निर्वासनता। सुखको अपनी गोदमें रखती है। सुखका बुद्धिग्राह्य अर्थात् देश-काल वस्तुसे निरपेक्ष होना अनायास है, अच्युत है, नित्यसम्बोध है।

आप सुख हैं। बुद्धिमें आपका प्रतिबिम्ब सुख है। सुखाकार बुद्धि सुख है। अनुकूल-वेदन, वासनापूर्ति और दुःखाभाव—ये सब सच्चे सुखके संकेतमात्र हैं। ये सुखके लक्षण नहीं, उपलक्षण है। 'सु' यानी सुन्दर और 'ख' यानी इन्द्रिय, मन, हृदयाकाश। इनकी सुन्दरता सहज है। बाह्य निमित्तसे ही इनमें आगन्तुक उत्पात खड़े होते हैं। आप सुखको आमन्त्रित मत कीजिये। दुःखको भगानेके लिए बल-प्रयोग मत कीजिये। बुद्धिमें वासनारूप मलिनता लगी-सी भास रही है। उसको आत्मबुद्धिके प्रकाशमें लुप्त हो जाने दीजिये। आपका जीवन सुख-समुद्रका तरंगायमान रूप है। सुख-सूर्यका रश्मि-पुंज है। सुख-वायुका सुरभि-प्रवाह है। जीवन अर्थात् सत्की आकृति, चित्का प्रकाश और आनन्दका उल्लास! जीवन अकेला नहीं होता, ज्ञान और आनन्दके साथ उसका अविभाज्य सम्बन्ध है। आपका जीवन सुख है।

कहीं आप अपनेको यह अवयव-विन्याससे विशिष्ट पाँचभौतिक शरीर तो नहीं मान बैठे हैं? यदि ऐसा है तो आप सुखी जीवन कैसे बिता सकते हैं? इसके साथ जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, संयोग-वियोग, ह्रास-विकास लगे ही रहते हैं। अपनेको शरीर मानकर कभी कोई भयमुक्त नहीं हो सकता। निर्भयताकी प्राप्तिके लिए आत्माकी शाश्वत सत्तापर आस्था होना

आवश्यक है। शरीर उत्पाद-विनाशका पात्र है। जीवन असीम है। यह डूबता-उतराता रहता है—व्यक्तसे अव्यक्त और अव्यक्तसे व्यक्त! वह स्थूल-सूक्ष्मका एक नित्य-प्रवाह है, आकृतिका परिवर्तन है। तरंगें बदलती हैं, ज्वालामें लहरियाँ हैं परन्तु मूलतत्त्व एक ही है। इसपर आस्था ही धर्मका स्वरूप है। जितने धार्मिक मत-मजहब हैं, उनका मूल आधार देहातिरिक्त आत्मापर आस्था है। यह ठीक है कि इसे सबको नहीं समझाया जा सकता। परन्तु आस्थाके लिए पहलेसे विवेकी होना आवश्यक नहीं है। विवेक मलिन आस्थाको अथवा आस्थाकी मलिनताको मिटा देता है। वस्तुतः आस्था ही विवेककी जननी है। आस्था परम्परा और संस्कारसे भी आती है। अतएव बालक, नासमझ एवं स्मरणशक्तिहीनमें भी आस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकती और रह सकती है। आप बुद्धिद्वारा न समझ सकें, तब भी आत्माके नित्य अस्तित्वपर आस्था कीजिये। मृत्युका भय त्याग दीजिये। अपने नित्य आत्माके अनुरूप स्थित रहिये, कार्य कीजिये। आपके जीवनमें धर्म प्रवेश करेगा और प्रतिष्ठित होगा। उसके लिए विवेक भी चमकेगा। निर्मलता और विवेकका प्रकाश आनेपर आपका अन्तर्मन मुसकरायेगा और आपका बाह्य जीवन भी सुखी हो जायगा।

आपके हृदयके किसी कोनेमें, अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें कहीं जाने-अनजाने, गुम-गुम आग तो नहीं सुलग रही है? तीक्ष्ण दृष्टिसे अन्तरात्माकी गम्भीरतामें छू-छूकर इसे ढूँढ़ना पड़ेगा; क्योंकि यह द्वेषकी आग है। आप किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति, विचार, जाति, सम्प्रदाय शैली या सिद्धान्तके स्मरणसे जलने तो नहीं लगते हैं। यह द्वेषकी आग है? कभी-कभी भ्रमवश इसमें हित-बुद्धि हो जाती है। तब इस दाहरोगकी चिकित्सा असाध्य हो जाती है। इस आगको आप अहिंसा और मैत्रीकी भावनासे बुझा दीजिये। कर्म, मन या वचनसे जान-बूझकर किसीको दुःख मत पहुँचाइये। हमारा संग्रह किसीको दरिद्र न बना दे। हमारा भाषण किसीके हृदयमें चुभ न जाय। हमारा भोग किसीके जीवन, यौवन और सदाचारका संहार न करे। हमारे कर्म किसीके लिए मर्मवेधी न हों, हानि-ग्लानिके हेतु न हो। दुःखीसे घृणा मत कीजिये। घृणा द्वेषका पिघला हुआ रूप है। पापीको मत मारिये। हिंसा द्वेषका विकृत रूप है। सुखीको देखकर अपनेको हीन मत समझिये। यह द्वेषमूलक आत्म-हत्या है। पुण्यात्मासे ईर्ष्या मत कीजिये। उसके सहयोगसे आप भी पुण्यात्मा बनिये। ईर्ष्या द्वेषाग्निको लपट है। सच तो यह है कि किसीसे भी द्वेष करना आत्महत्या है। उसके द्वारा आप अपनेको ही दुःखी करते हैं। आप अहिंसाका व्रत लीजिये। यह तपस्या आपके जीवनको सुखी कर देगी।

जैसे प्रकाश यथास्थित वस्तुका दर्शन करा देता है, उस वस्तुके गुण-दोषको उत्पन्न नहीं करता—उसे सटाता-हटाता नहीं, वैसे ही हमारी इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंद्वारा जो वस्तुएँ देखी जाती हैं उन्हें भी केवल प्रकाशित ही होना चाहिए। आँख देख ले, कान सुन ले, मन क्षणभरके लिए संस्कारानुसार अनुकूल-प्रतिकूल मान ले, बुद्धि उसका रहस्य समझ ले—ये सब खिड़कियाँ हैं, झरोखे हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा या आत्माका ज्ञान इन द्वारोंसे केवल झाँकता है। न इन्हें अपने साथ सटाता है, और न हटाता है। जब आप किसी भी वस्तुको अपने साथ जोड़ना चाहते हैं, तब अनजाने ही अपनेको अपूर्ण और अधूरा समझ बैठते हैं। अब या तो आप उस

वस्तुको अपने साथ सटा लीजिये, उसके रँगमें रँग जाइये, तब अपनेको सुखी अनुभव करेंगे या उसके पीछे पीछे लगे डोलिये। दोनों ही दशाओंमें आप अपनेमें इसका अभाव अनुभव करते हैं। वह आपका अपना नहीं है। वह दूर जायगा, देर करेगा, दूसरा बन जायगा। आप रोयेंगे, दुःखी होंगे। अतः सुखी जीवनका रहस्य यह है कि आप अपनेको रागसे बचाइये। सबको देखिये, सुनिये, सद्व्यवहार और प्यार कीजिये, समझिये। त्याग मत कीजिये, पर राग भी मत कीजिये। आपका रंजन दूसरा नहीं, स्वयं आप हैं। दूसरा रंजन होगा तो आप रागी हो जायँगे, दूसरेके रँगमें रँग जायँगे। अतः त्याग न होनेपर वैराग्य आवश्यक है। त्याग बाहरी है और वैराग्य अन्तरङ्ग। यह आगन्तुक नहीं है, आपके सहज स्वरूपका वृत्तिमें प्रतिबिम्बन है। आप असङ्ग हैं। बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ भी असङ्ग हैं। किस विचार, आसक्ति या विषयने आपका सदा सर्वदा साथ दिया है? वे जाते रहे हैं और आप उनको छोड़ रहते रहे हैं। अपने इस स्वभावको निर्विघ्न, निर्बाध प्रकट होने दीजिये। आप सुखी रहेंगे। आपकी जीवन-शैली सबके लिए सुखका उद्गम बनेगी।

क्षणभरके लिए अपने आपका ही निरीक्षण, परीक्षण या समीक्षण कीजिये। आपका 'मैं' किसी विकीर्ण कणके समान संकीर्ण तो नहीं हो गया? आपका 'मैं' ज्ञानके प्रकाशको आवृत तो नहीं करता? आप कब कब, कहाँ-कहाँ, किस-किससे और कैसे-कैसे 'मैं' को जोड़ते तथा तोड़ते है? आप जान-अनजानमें अपने 'मैं'को कितना महत्त्व देते हैं? अपने 'मैं' में कितने लीन रहते हैं? दृष्टिको उदीर्ण और विस्तीर्ण होने दीजिये। अस्मिता या मैं पनको दृश्य नहीं, असंग चेतनके साथ जोड़िये। वह 'मैं'का प्रकाशक होगा, तो आप समाधिकी ओर बढ़ेंगे। अन्तर्यामी होगा, तो भक्ति-भावना और शरणागतिका उदय होगा।

दुःख फल है। उसके फलनेकी तीन डालियाँ हैं: मोह, राग और द्वेष। ये डालियाँ हैं अस्मितारूप वृक्षकी, जिसके बीज मिथ्याज्ञानको तत्त्वज्ञानसे नष्ट करना पड़ेगा। क्या आपका 'मैं' शुद्ध है या उसमें कुछ मिलावट कर रखी है? मिलावट ही बनावट और मलिनता है। वृत्तिज्ञान, इच्छा-द्वेष, क्षणिक-सुख दुःख, धर्म-अधर्म और हजारों प्रवृत्तियाँ अपने 'मैं'के साथ जोड़कर आपने स्वयं अपने आपको छिन्न-भिन्न कर लिया है। आपके 'मैं'के साथ परिच्छिन्नताएँ जुड़ गयी हैं। यहीं आपको क्षण-क्षण काटती-पीटती रहती हैं। इनका आना तो आपको काटता ही है, जाना भी आपको क्षुद्र-हीनताका शिकार बना देता है। आप अभाव-ग्रस्त, संत्रस्त और अस्तप्राय हो जाते हैं। अतः विवेकद्वारा इनसे अपने आपको अलग कीजिये। अथवा ऐसी सान्द्र पूर्णतामें लीन कर दीजिये कि आपकी अस्मिता स्वाहा हो जाय। त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे विवेक होता है तो तत्-पदार्थकी प्रधानतासे भक्ति। पहलेमें श्रद्धाका स्थान अपरोक्षता लेती जाती है तो दूसरेमें तत्-पदार्थसे अन्यके प्रति वैराग्य। दोनों पदार्थोंकी एकताका बोध हो जानेपर द्वैत-भ्रान्तिका समूल उच्छेद हो जाता है। उसमें सुख-दुःखका द्वैध नहीं, अखण्ड सुख और अद्वितीय आनन्द है। क्या आप इसी जीवनमें इस अनुभूतिके लिए प्रयत्नशील हैं?

अन्धाधुन्ध भागने-दौड़नेका नाम 'साधना' नहीं। हम क्या चाहते हैं, क्या कर सकते हैं, उसको कितना समझते हैं, कहीं अनधिकृत और अवश्यके अनुष्ठानमें तो संलग्न नहीं है ? कहीं ऐसा हुआ तो हमारा यह जीवन दुःखी हो जायगा। आप अपनी 'अस्मि'-भावनाका विश्लेषण कीजिये। आप क्या-क्या छोड़ सकते हैं ? निश्चय ही आप अपनी अस्मि-वृत्तिको झूठ, हिंसा, चोरी, व्यभिचार और जड़ वस्तुओंके साथ जोड़ना पसन्द नहीं करेंगे। क्या आपका 'अहम्' चोर-व्यभिचारी बनना चाहेगा ? तब आप इन्हें स्वरूपतः छोड़ दीजिये। इनके साथ 'मैं-मेरा' करना आपको पसन्द नहीं है। आपमें इन्हें छोड़नेकी सामर्थ्य है। इन्हें दोषरूपसे समझते हैं। ये कर्तृत्वपूर्वक वासनाकी तीव्रतामें ही होते हैं तथा आपको इन्हें छोड़ देनेका पूर्णतः अधिकार है। ऐसी अवस्थामें आप एक झटकेमें ही इन्हें उड़ा दीजिये। दोषमें रस आता है, तभी उन्हें धीरे-धीरे छोड़नेकी योजना बनायी जाती है। कड़वी वस्तु थूकनेमें विलम्ब नहीं किया जाता। दोष दुःख हैं, पर अभ्यास-संस्कारसे अनित्त वासनाके कारण अर्थात् बार-बार उन्हें दोहरानेसे वे स्वादु लगने लगते हैं। इनको छोड़नेसे आप सन्तुष्ट होंगे, आपको कोई कष्ट नहीं होगा। त्यागको सामर्थ्यकी अभिव्यक्तिसे आप अपनेमें ज्ञानबल और निर्मल रसका अनुभव करेंगे। सुखी और पवित्र जीवन व्यतीत करनेके लिए इन दोनोंकी आवश्यकता है।

अच्छा, दृष्टिमें थोड़ी और सूक्ष्मता लाइये। चोरी, हिंसा आदि अशुभ प्रवृत्तियाँ जान-बूझकर कर्तृत्वपूर्वक वासनावश की जाती हैं। अतएव इन्हें अनायास छोड़ा जा सकता है। करना-छोड़ना दोनों अपने हाथमें है। किन्तु मनमें काम-क्रोधादि दोषोंका उदय जान-बूझकर कर्तृत्वपूर्वक नहीं किया जाता। वे आ जाते हैं, तब ज्ञात होते हैं। आनेके बाद उन्हें सधाना पड़ता है, पकाना पड़ता है। कोई-कोई वस्तु कच्ची होनेपर खट्टी और कड़वी होती है, परन्तु सिद्ध एवं परिपक्व हो जानेपर मधुर हो जाती है। इन्हें विवेककी आगपर अनाचरणके ढक्कनसे ढँककर पकायें तो इनकी कड़वाहट जल जायगी। फिर इनमें भगवद्भावकी ऐसी प्रेम-माधुरी मिलायें कि ये सर्वथा मीठे हो जायँ। अपने घरमें शक्कर न हो, तो दूकानसे या पड़ोसीके घरसे भी ले सकते हैं। अपनेमें सद्गुण न हों तो दूसरोंसे प्राप्त कर लीजिये। निष्कामताकी कामना कीजिये। क्रोधपर क्रोध कीजिये। भगवान्से भी लड़-झगड़ लीजिये। कामका मुँह भीतरकी ओर मोड़ दीजिये। न आग बुझे, न ढक्कन उतरे। कड़वा भी मीठा हो जायगा। काम-क्रोधादि भी परिपक्व हो जायँगे। सुख बनानेकी विद्या, कला चाहिए। छोड़िये, पकाइये, गुरुजनोंसे माँगकर लाइये फिर देखिये, आपके अन्तःकरणमें सुखका अक्षय भण्डार भरा है !

(क्रमशः)

आत्यन्तिक सुख

आत्यन्तिक सुख इन्द्रियातीत है, उसे केवल विशुद्ध बुद्धिके द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। उसे उपलब्ध कर लेनेपर दूसरा कोई लाभ शेष नहीं रहता है।

(गीता० ६।७)

पुण्यश्लोक माधवजी !

श्री रंजन सूरिदेव

☆

कौन प्राणी किस दिन, कब और कहाँ जन्म लेगा और मर जायगा, यह बड़ा ही अज्ञेय विषय है। इसीलिए, जन्म और मरणपर नियन्त्रण करनेका मानवीय प्रयास बराबर असफल रहा है। डाक्टर भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधवजी'की मृत्युके कुछ क्षण पूर्व इस बातकी तनिक भी सम्भावना नहीं थी कि वे सहसा अपनी इहलीला संवरण कर लेंगे। कहना तो यह चाहिए कि मृत्युने माधवजीके जीवनके साथ छल किया। एक तो मृत्यु यों ही निर्मम होती है। फिर यदि वह छल करनेपर आमादा हो जाती है, तो और अधिक क्रूर प्रतीत होती है।

माधवजीकी मृत्युके चन्द दिनों पूर्व मैं पटना मेडिकल कालेज-अस्पताल जाकर उनसे मिल आया था। उनका मेरे प्रति सहज स्नेह रहता था। मेरा यह सौभाग्य, उनके अन्यत्र दुर्लभ सौजन्य और उदारताका सदा अधमर्ण बने रहनेमें गौरवान्वित होता था। आज साहित्यकारोंकी दुनिया भी एक बाजार बन गयी है। इस बाजारमें वास्तविक सौजन्य और उदारताका प्रायः अभाव हो गया है। फलतः वह बड़ा महँगा पड़ता है। लेकिन माधवजीने अपना भाव बराबर सस्ता रखा। ऊँचे-से ऊँचे पदोंपर पहुँचकर भी कभी महँगे नहीं बने। साहित्यिक सरसतासे रिश्ता तोड़कर उन्होंने न कभी राजनीति की नीरस ठस्सेबाजी दिखायी और नहीं अफसरीके घमण्डमें अनावश्यक गम्भीरताका मुखौटा ही लगाया। हर स्थितिमें वे बराबर खुले रहे, खिले रहे—रामायणके पन्नोंकी तरह !

माधवजी गया-कालेजके प्राचार्य-पदसे सेवा-निवृत्त हो चुके थे और सम्प्रति गयामें ही रहकर महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजजीके निर्देशपर 'वैष्णव-साधना और सिद्धान्त'के सन्दर्भमें चिन्तन-मनन कर रहे थे। बिहार हिन्दीग्रन्थ-अकादमीसे उनका एक तद्विषयक ग्रन्थ 'वैष्णव-साधना और सिद्धान्त : हिन्दी-साहित्यपर उसका प्रभाव' प्रकाशित भी हो रहा है। एक दिन मैं अकस्मात् यह सूचना पाकर सन्न रह गया कि माधवजी 'टंग पैरालाइसिस'से आक्रान्त हो गये हैं। सरस्वतीके वरदपुत्रकी जिह्वापर ही यह दैवाघात सचमुच चिन्तनीय था। मैंने पत्र लिखकर जिज्ञासा की, तो उनके पुत्र श्री हरिमाधव (हरिजी) के उत्तरसे यह जानकर सान्त्वना मिली कि स्थिति चिन्ताजनक नहीं है, सुधार हो रहा है। कुछ ही दिनोंके बाद पुनः खबर आयी कि पक्षाघातकी सर्वांगव्यापक स्थितिकी भयानकताको देखकर चिकित्साके लिए उन्हें रांची ले जाया गया है, जहाँ वे अपने प्राध्यापक जामाता की देखरेखमें चिकित्सार्थ रखे गये हैं। इस प्रकार उनके स्वास्थ्यके समाचार विभिन्न रूपोंमें आते रहे और मैं किसी बंगाली

पदकर्ताके 'भूतेर व्यागारे खेटे मरि'की स्थितिमें उलझा रह गया ! उनके पुरसांहालके लिए सशरीर उपस्थित न हो सका।

मैं माधवजीकी सही शारीरिक स्थिति देखनेके लिए आतुर ही था कि अचानक सूचना मिली कि वे पटना मेडिकल कालेज-अस्पतालके 'गुजरी पेइंग वार्ड'में भरती हो गये हैं। मैं उन्हें देखने पहुँचा, किन्तु इच्छापूर्ति नहीं हुई; क्योंकि उनके परिचर्या-कारोंने बतलाया कि पानी चढ़ाये जानेके कारण वे बेहोश पड़े हैं। इस प्रकार, यथापूर्व उनके स्वास्थ्यके सुधरने और बिगड़नेकी सूचनाएँ आती रहीं और मैं मानवीय विवशताकी दुर्बलतासे आक्रान्त हो ईश्वरेच्छाकी सबलताके समक्ष नतशीर्ष मौन बना रहा। हालां कि, जब भी उनकी स्थिति सुधरती, तब मेरे मित्रोंके समक्ष अन्यान्य जिज्ञासाओंमें मेरी जिज्ञासाको भी अवश्य सम्मिलित कर लेते।

एक दिन श्री महेशचन्द्रशर्माकी सूचनाके आधारपर यह जानकर आह्लाद हुआ कि कलकत्तेके 'हनुमान साहित्य-संस्थान' (ट्रस्ट) ने माधवजीकी, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्से प्रकाशित प्रसिद्धि-प्राप्त पुस्तक 'रामभक्ति-साहित्यमें मधुर-उपासना'को पाँच हजार मुद्राओंसे पुरस्कृत किया है। मैं शर्माजीकी ही प्रेरणावश अस्पताल पहुँचा। इसबार मेरी ईहापूर्ति हुई। माधवजी प्रसन्न दीख पड़े। उनकी मुस्कराहट अस्पतालकी निर्जीव उदासीनतामें सप्राण आस्थाकी तरह खिल रही थी। पुरस्कारकी सूचना देनेपर निर्विकार ही बने रहकर उन्होंने भगवत्कृपाकी ओर संकेत किया।

माधवजी स्पष्टतया बोल नहीं पाते थे, फिर भी अपने मनोभावोंको सम्यक्तया व्यक्त कर लेते थे। उनसे मेरी बड़ी देरतक बातचीत होती रही। मेरी बातचीत प्रायः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्के सन्दर्भमें ही घूमती-फिरती रही, इसलिए कि अतीतमें माधवजीने बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्के प्रति ऐतिहासिक मूल्यांकनके योग्य अपनी सेवाएँ अर्पित की थीं। फलतः हिन्दीकी समृद्धिके सम्बन्धमें परिषद्के योगदानकी समीक्षा ही मेरी बातचीतका परिवेश बना रहा। माधवजी अपने सहजस्मितकी मधुर मुद्रामें मेरी बात सुन रहे थे और बीच-बीचमें स्पष्टीकरणके लिए टोकते भी जाते थे। मेरी बातका कुल मिलाकर निष्कर्ष यही था कि माधवजी जैसे सदापर्णी साहित्यकारका यह रेगिस्तानी रूप बड़ा ही अप्रत्याशित है और ईश्वरने एक प्रकारसे उनके प्रति बड़ा अन्याय किया है।

मेरी बातपर माधवजीने मनको उदास करनेवाले अस्पताली माहौलमें कम्बलके भीतर सुग-बुगाते हुए कहा था : 'ईश्वरसे मैं कुछ भी नहीं माँगता। मेरी उनसे यही प्रार्थना है कि वह मेरी लेखनी और माला लौटा दे।' कहना होगा कि पक्षाघातसे आक्रान्त माधवजीकी अंगुलियाँ लिखने और जप करनेमें असमर्थ हो गयी थीं। परिणामतः माधवजी जैसे परम भागवत एवं अक्लान्त लेखकका विकल रहना अस्वाभाविक नहीं था।

शारीरिक स्थितिके सम्बन्धमें पूछनेपर माधवजीने अपने जीवनके प्रति प्रचुर आस्था और उल्लास व्यक्त किया। अपनी दोनों काँपती भुजाओंको उठाकर हवामें तौलते हुए कहा। 'मेरी दैहिक दशा पर्याप्त सुधर रही है।' साथ ही अपनी सेवा-निष्ठ गृहस्वामिनी, इकलौती पुत्री

और अपने तीनों अनुकूल सुपुत्रोंकी ओरसे की जानेवाली सेवाओंके प्रति हार्दिक परितृप्तिका भाव प्रदर्शित किया। मैंने अपने मनमें माधवजीके जीवनके प्रति अटूट विश्वास समेटते हुए ईश्वरसे उनकी लेखनी और माला लौटानेकी प्रार्थना की और शुभाशंसामें जुड़े हुए उनके हाथोंकी भाषामें लहराती भंगीका स्मरण करता हुआ अस्पतालसे वापस चल पड़ा। किन्तु उस क्षण नियतिकी ओटमें मानव-जीवनका फेनोपम क्षण-भंगुरताके प्रति अट्टहास करनेवाली मृत्युको लक्ष्य करनेमें न मैं समर्थ था, और न माधवजी ही!

अस्वस्थ माधवजीके पुरसांहालको गये कुल एकआध सप्ताह ही बीता था और मैं फिर सोच ही रहा था कि परिषद्से प्रकाश्यमान 'रामभक्ति-साहित्यमें मधुर-उपासना' ग्रन्थके द्वितीय संस्करण तथा बिहार हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमीसे छपनेवाले ग्रन्थ' 'वैष्णव-साधना और सिद्धान्त: हिन्दी-साहित्यपर उसका प्रभाव'की मुद्रण-प्रगतिकी सूचना उन्हें दे आऊँ। किन्तु ३१ दिसम्बर (१९७२) को अहले सुबह दैनिक 'पत्र'के मुखपृष्ठपर माधवजीके 'चल बसने'का समाचार पढ़कर सकतेमें आ गया। साथ ही जीवनको अनिश्चितताके प्रति उभरी विरक्तिसे मन-प्राण एक अजीव तिक्ततासे भर उठे। जीवनके प्रति हृदयमें प्रतिष्ठित सारी आस्था और समग्र विश्वास एकबारगी भहराने लगे। जीवनकी अयथार्थतापर मृत्युकी यथार्थताके विजय-घोषसे मेरा पंचतत्त्व-निर्मित शरीर काँपकर रह गया!

पटनाके मासिक 'किशोर'में प्रकाशित एक संस्मरणात्मक निबन्धद्वारा माधवजीसे मेरा प्रथम-प्रथम आक्षरिक परिचय हुआ था। बिहार-हिन्दी साहित्य-सम्मेलनके कार्यालयमें मेरे पद-स्थापित होनेपर मुझे उनसे कई बार विविध साहित्यिक प्रसंगोंमें साक्षात्कारका अवसर मिला। फिर बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्में मेरे पद-स्थापित होनेके बाद जब माधवजीने निदेशक होकर परिषद्को गौरवालंकृत किया, तब तो उनके अत्यन्त निकटमें आने और उनसे निरन्तर उत्प्रेरित-अनुप्राणित होनेका सौभाग्य सुलभ हो गया।

माधवजी जबतक पटनामें रहे, तबतक उनके सत्संगका सुअवसर बना ही रहा। मुझे तो वे अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही रूपोंमें विसदृश कभी नहीं दिखायी पड़े। आचार्य शिवजीने परिषद्के तत्त्वावधानमें, हिन्दी साहित्यकी शोधात्मक समृद्धिकी दृष्टिसे विभिन्न विषयोंके अनेक वयोवृद्ध पण्डितोंके मौखिक शास्त्रीय ज्ञानको लिपिबद्ध करानेकी एक विस्तृत योजना बनायी थी। इसी योजनाके क्रममें आचार्य शिवजीने न्यायदर्शन और व्याकरणके धुरन्धर विद्वान् पण्डित रंगनाथ पाठकसे 'षड्दर्शन-रहस्य' नामक पुस्तक तैयार करवायी और उस पुस्तककी पाण्डुलिपिके संशोधन-सम्पादनका भार उन्होंने आदरणीय माधवजीको सौंपा था। इस सारस्वत कार्यमें आचार्य शिवजीने मुझे सहायकके रूपमें माधवजीके साथ लगा दिया था। फलत: मुझे दो लाभ एक साथ प्राप्त हो गये। प्रथम यह कि माधवजीके निकट-से-निकट सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य और द्वितीय, उनके गम्भीर वैदुष्यके प्रसादसे संबधित होनेका अवसर।

माधवजी अपनेको महामना मदनमोहन मालवीयजीका शिष्य घोषित करनेमें परम गौरव अनुभव करते थे। उनका कहना था कि काशी हिन्दू विश्व-विद्यालयके छात्रोंकी ओजस्विता और वर्चस्विता कुछ अनोखी ही हुआ करती है। माधवजी एक ओर जहाँ चायके

प्रबल विरोधी थे, वहीं दूसरी ओर शोध-ग्रन्थोंमें द्रौपदीके चीरकी भाँति अनाद्यनन्त लम्बी पाद-टिप्पणियोंको प्रखरतासे नापसन्द करते थे। घिसे-पिटे शब्दप्रयोग उन्हें नहीं भाते थे। यहाँतक कि अपनी स्फुट रचनाएँ भी वे अनेक नये-नये नामोंसे लिखते। दूध उन्हें बहुत प्रिय था। सम्पादन-सत्संगके क्रममें उनके आवासपर उनकी ओरसे प्रसाद-स्वरूप प्राय: नित्य मिलनेवाली खीरको मैं आज भी नहीं भूल पाता।

परिषद्में माधवजीका मैं एक अदना-सा अधीनस्थ कर्मचारी रहा। किन्तु उन्होंने अपनी सुजनतावश मुझे मेरी अपनी हैसियतसे अधिक आदर दिया। मैंने जब उनके निदेशन-कालमें वाराणसीके संस्कृत विश्वविद्यालयसे 'जैनदर्शनशास्त्री' की परीक्षा उत्तीर्ण की, तब उन्होंने अपनी ओरसे परिषद्-परिवारको एक पार्टी ही दे डाली और मुझे अपनी शुभाशंसाओंसे आप्लावित कर दिया। मेरा खयाल है, वाराणसीके प्रति आध्यात्मिक या सांस्कृतिक लगावके कारण ही उन्होंने मेरी उक्त परीक्षाको इतनी इज्जत बख्शी थी। क्योंकि काशी जिसको एक बार लग जाती है, जीवन भर नहीं छूटती। शिवजी और माधवजी दोनोंके बारेमें यह बात लागू थी।

माधवजीने अपनी दो पुस्तकोंके प्रकाशनमें मेरे पूर्ण सहयोगको स्वीकार करनेकी कृपा की थी। प्रथम है, पटनाके 'अनुपम प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित 'हँसते फूल और मुस्काती कलियाँ' और द्वितीय है, इलाहाबादके 'लोकभारती प्रकाशन' द्वारा वितरित 'जीवनके चार अध्याय'। प्रथम पुस्तक ललित-निबन्धों या रम्य रचनाओंका संकलन है, तो द्वितीय पुस्तकमें उनके छात्र-जीवन, बन्दी-जीवन, सम्पादकीय जीवन और अध्यापकीय जीवनके मार्मिक संस्मरण शब्दित हैं। उन्होंने 'जीवनके चार अध्याय' की भूमिकाका शीर्षक दिया है। 'हंस अकेला जाय'। आज जब वे इस इस धराधामपर नहीं हैं, उक्त शीर्षक मर्मको रह-रहकर बींधता है। लगता है, सन्त साधक होनेकी हैसियतसे उन्हें मृत्युका आतंक कभी त्रस्त नहीं कर सका। मृत्युके पूर्व जिसने भी उनके सस्मित अधरपुटोंको देखा है, उसे मेरी उक्त बातसे कभी इनकार नहीं होगा।

माधवजीने औरंगाबाद (गया) के सच्चिदानन्द सिंह कालेजसे अध्यापकीय जीवन अंगीकृत किया था। आचार्य शिवजीके बाद जब उन्होंने बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्की कमान सम्भाली तब उन्होंने वार्ता-प्रसंगमें एकबार मुझसे कहा था। 'प्रशासकीय जीवनको लिख देनेके बाद मेरे जीवनके चार अध्यायोंमें पाँचवा अध्याय भी जुड़ जायगा।' हालां कि प्रशास-कीय जीवन उन्हें इतना प्रभावित नहीं कर पाया कि उसे अपने जीवनका पाँचवा अध्याय बनाते। उनकी लेखनी शरीरके अशक्त होनेके अन्तिम क्षणतक फर्राटेसे लिखती रही, फिर भी वह प्रशासकीय जीवनकी ओर कभी उद्ग्रीव नहीं हुई।

परिषद्से पुनः अध्यापकीय जीवनकी ओर प्रस्थान करते समय त्रैमासिक 'परिषद्-पत्रिका' में माधवजीने अपनी अन्तिम टिप्पणीका शीर्षक ही दिया था। 'पुनश्च हरिः ॐ'। अब तो उनका पार्थिव-शरीर होइस धराधामसे निश्चिह्न हो गया। निस्सन्देह वे 'हरिः ॐ' के भक्त थे और पुनः उनकी ही दुनियामें निरहंकारभावसे वापस चले गये!

●

तुलसीके मंगल-काव्य

डॉ० उमा मौडवेल

☆

तुलसी मंगल-काव्योंमें 'रामलला-नहछू', 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' ही आते हैं, पर 'बरवैरामायण' भी मंगल-काव्य ही है।

१. बरवै-रामायण

बरवै-रामायण अत्यन्त सरस रचना है। इसमें पूरी रामकथा बरवै छन्दोंमें दी गयी है। यद्यपि इसमें बरवै तो कुल ६९ हैं, किन्तु ये भी कथाके क्रमसे सात काण्डोंमें विभक्त कर दिये गये हैं। यह भी सम्भव है कि गोस्वामीजोने रामकी कथा इससे भी कहीं अधिक बरवै छन्दोंमें लिखी हो, जो पीछे चलकर नष्ट हो गये और जो बच रहे, वे ही इस रूपमें संकलित कर दिये गये हों। रहीमके अनुरोधपर अवधीके इस मधुरतम छन्दमें रामकथा कहनेके लिए गोस्वामीजी प्रवृत्त हुए और केवल ६९ ही छन्द रचकर रह गये, यह बात समझमें नहीं आती। वैसे अब जो पोथियाँ मिलती हैं, उनमें कथात्मक रूपमें इनका रचना-क्रम नहीं देख पड़ता।

बरवै-रामायणकी भाषा जैसी मधुर और मनोहर है, वैसे हो इनमें अलंकारोंका प्रयोग भी बड़ा सटीक हुआ है। रामके रूप-वर्णन, सीताके सौन्दर्य और विरह-वर्णन, भक्तकी दैत्य-अवस्था एवं भक्ति-भावके वर्णनोंसे रस छलका पड़ता है। इन छोटे-छोटे प्रवाहपूर्ण छन्दोंमें भी रूप-चित्रणकी विशेषता देखते बनती है। एक उदाहरण लीजिये—

सम सुबरन सुखमाकर, सुखद न थोर।
सीय अंग सखि! कोमल, कनक कठोर॥

इस छन्दकी व्यञ्जना कैसी अनूठी है :

गरब करहु रघुनन्दन, जनि मन माहिं।
देखहु आपनि मूरति, सियकी छाँह॥

विरहिणोकी वेदनाका देखिये कैसा स्वाभाविक चित्रण है :

डहकु न है उजियरिया, निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु, मोहि बिनु राम॥

बरवै-रामायणके इस अन्तिम छन्दमें :

जनम जनम जहँ जहँ तनु, तुलसिहुँ देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब, नाम सनेहु॥

गोस्वामीजीने ठीक वही भाव व्यक्त किया है जो उन्होंने मानसमें व्यक्त किया है :

जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन।

बरवै-रामायणके कुछ सरस उदाहरण लीजिये।

केस मुकुत सखि मरकत, मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता, करत उदोत
सियमुख सरद कमल जिमि, किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन, यह बिगसाइ॥
चंपक-हरवा अँग मिलि, अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाइ॥
सिय तुव अंग-रंग मिलि, अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥
तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसुकानि।
कस प्रभु नयन कमल अस, कहौं बखानि॥
का घूँघट मुख मूँदहु, अबला नारि?
चाँद सरग-पर सोहत, यहि अनुहारि॥
तुलसी जनि पग धरहुँ, गंग महँ साँच।
निगानाँग करि नितहिं, नचाइहि नाच॥
कमल कंटकित सजनी! कोमल पाइ।
निसि मलीन, यह प्रफुलित, नित दरसाइ॥
सीय बरन सम केतकि, अति हित हारि।
किहेसि भँवर-कर हरवा, हृदय बिदारि॥
सीतलता ससिकी रहि, सब जग छाइ।
अगिनि ताप ह्वै तन कहँ, सँचरत आइ॥
बिरह आगि उर ऊपर, अति अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि, देहिं बुझाइ॥
अब जीवन कै है कपि! आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुँदरी, कंगन होइ॥
सरद चाँदनी सँचरत, चहुँ दिसि आनि।
बिधुहि जोरि कर बिनवति, कुलगुरु जानि॥

जान आदिकवि तुलसी, नाम प्रभाउ।
उलटा जपत कोल ते, भे ऋषिराउ॥
कलसजोनि जिय जानेउ, नाम प्रतापु।
कौतुक सागर सोखेउ, करि जिय जापु॥
केहि गिनती महँ गिनती, जस बनघास।
राम जपत भे तुलसी, तुलसीदास॥
कामधेनु हरिनाम, काम-तरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल, सुमिरत नाम॥

२. रामलला-नहछू

रामलला-नहछू भी बड़ी सरस रचना है। है तो यह अत्यन्त छोटी, कुल २० ही सोहर-छन्दोंमें। किन्तु जिस अवसरके लिए यह रची गयी है, वह अवसर ही मोद और रस प्रदान करनेवाला है। अतः रचनाके रसमय होनेमें सन्देह क्या रह जाता है? जिन मंगलमय अवसरोंपर नहछू होते हैं, उनमें स्त्रियाँ 'गारी' भी गाती हैं और वे किसीको अप्रिय भी नहीं लगतीं। फिर भी गोस्वामीजीने प्रचलित गीतोंको असंस्कृत समझकर इस सांस्कृतिक गीत-मालाकी रचना की।

इसमें गोस्वामीजीने अधिक यथार्थवादी और रसिक होकर कई छन्दोंमें हास-परिहासकी भी बड़ी सुन्दर व्यञ्जना की है :

काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
कीदहुँ रानि कौसिलहिं परिगा भोर हो॥

३. जानकी-मंगल

गोस्वामीजीने राम-जानकीके विवाह-विषयवाले इस ग्रन्थकी कथा मानसकी कथासे कुछ भिन्न रूपमें ग्रहण की है। परशुरामवाला प्रकरण इसमें वाल्मीकिके ही अनुसार है और वह कथा भी दो ही छन्दोंमें समाप्त कर दी गयी है। इसमें केवल विवाहका ही वर्णन बहुत विस्तारसे किया गया है। इसीलिए सम्भवतः इसका नाम 'जानकी-मंगल' पड़ा। कथानक, वर्णन आदि सभी दृष्टियोंसे यह खण्डकाव्य बहुत ही सफल हो पाया है।

इसमें गोस्वामीजीने अपने समयमें प्रचलित उन लोकाचारोंका वर्णन भी बड़े विशद रूपसे किया है, जिनमें नेग और गाली आदिका विधान पूर्णरूपसे मिलता है। इस मांगलिक घटनाके वर्णनमें कविने विशेष रुचि दिखायी है। इस ग्रन्थकी भाषामें बड़ा वेगशील प्रवाह है और प्रतीत होता है कि शब्द एक दूसरेके पश्चात् जैसे स्वयं फिसलते चले आ रहे हों।

गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेस सुकबि स्रुति सन्त सरलमति॥

हाथ जोरि करि विनय सबहिं सिर नावौं।
सिय रघुबीर बिबाह जथामति गावौं ॥

इस ग्रन्थकी भाषा, इसका छन्दोविधान सब कुछ मनोहारी है।

४. पार्वती-मंगल

जिस प्रकार जानकी-मंगलमें राम और सीताके विवाहकी चर्चा हुई है, उसी प्रकार उसी भाषा, उसी छन्द, उसी शैलीमें उमा-महेश्वरके विवाहकी कथा 'पार्वती-मंगल'में कही गयी है। आकारमें यह कुछ छोटा है, किन्तु अन्य बातोंमें ठीक जानकी-मंगलकी ही भाँति है।

इसमें कालिदासके कुमार-सम्भवकी कथाके अनुसार ही उमाकी तपस्याका वर्णन कुछ विस्तारसे हुआ है और उमा तथा बटु-वेषधारी शंकरका संवाद भी बड़ा सजीव हुआ है। विवाहकी कथा भी मानसकी अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है। यह रचना प्रत्येक दृष्टिसे जानकी-मंगलसे मिलती-जुलती है। इसमें भी प्रवाहमयी भाषा, वर्णनोंकी स्वाभाविकता और शब्दोंका माधुर्य देखते बनता है। कुछ उदाहरण लीजिये :

उमा नेहबस बिकल देह सुधि-बुधि गई।
कलपबेलि बन बढ़त बिषम हिम जनु दई ॥
तजेउ भोग जिमि रोग लोग अहि-गन जनु।
मुनि मनसहु ते अगम तपहिं लायउ मनु ॥
सकुचहिं बसन बिभूषन परसत जो बपु।
तेहिं सरीर हर हेतु अरंभेउ बड़ तपु ॥
नील निचोल छाल भइ फनि-मनि-भूषन।
रोम-रोमपर उदित रूपमय पूषन ॥
गन भये मंगलवेष मदन मन मोहन।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर जोहन ॥
सम्भु सरद राकेस, नखतगन सुरगन।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुरजन ॥

इस प्रकार गोस्वामीजीके काव्य सचमुच सबके लिए हितकर सिद्ध हुए। उनके काव्यके लिए सुरसरि-सम सबकर हित होई यह कहना ठीक ही है।

●

स्वामी विवेकानन्दकी कल्पनाका भारत

श्री नागेश्वर सिंह 'शशीन्द्र', विद्यालंकार

विवेकानन्दको अपना अन्तिम आशीर्वाद देते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंसने कहा था : 'नरेन्द्र, आज मैं भिखारी हो गया।' सचमुच परमहंसने अपना सारा धन उन्हें दे दिया, अपना सारा प्रकाश उनके अन्तरमें उड़ेल दिया था। किन्तु वे विवेकानन्दको देकर इस भारतको ही नहीं, समस्त विश्वको धनी कर गये। स्वामी विवेकानन्दको महात्मा गांधी 'महर्षि' कहा करते थे। एक महर्षिकी तरह उनके जीवनमें त्याग और तपस्याकी मात्रा थी। साथ ही तेज और पराक्रमकी मात्रा भी कम न थी। वे भारतको भारत बनाना चाहते थे। जहाँ भारतीयोंमें आध्यात्मिकताकी बात देखना चाहते थे, वहीं उन्नत शरीर और बलिष्ठ भुजा भी। उन्होंने विश्वेश्वरैयाको एक पत्र लिखा था : "भारतको आज ऐसे मनुष्योंकी आवश्यकता है, जिसको मांसपेशियाँ लोहेकी और स्नायु फौलादके हों। वह प्रचण्ड इच्छाशक्ति, जिसका-जिसका अवरोध दुनियाकी कोई शक्ति न कर सके, जो संसारके गुप्त तथ्यों और रहस्योंको वेध सके। जिस उपायसे हो, वह अपने उद्देश्योंकी पूर्ति करनेमें समर्थ हो फिर चाहे समुद्रतलमें ही क्यों न जाना पड़े या साक्षात् मृत्युका ही सामना क्यों न करना पड़े?"

भारत सदासे ज्ञान-विज्ञानकी भूमि रहा है। सदियोंतक जगद्-गुरु बना रहा। अपने इस महान् भारतके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है : "भारत वह पुरातन भूमि है, जहाँ संसारमें सर्वप्रथम ज्ञानका अवतरण हुआ और उसके बाद ही किसी देशतक उसके प्रकाशकी किरणें पहुँच सकीं। यह वही भारत है, जिसके अध्यात्मका अन्तःस्रवण स्थूलरूपसे दिखायी देता है उन सरिताओंमें, जिनका जल-सागर जैसा विस्तृत प्रतीत होता है। यह वही भारत है, जिसकी गरिमाका प्रतीक है हिमालय, जिसके हिमके स्तरपर स्तर आकाशमें प्रविष्ट होते चले गये और मानो स्वर्गके रहस्योंतक पहुँच गये। भारतकी धरती तो ऐसी पवित्र है, जहाँ कपिल और कणाद हुए, व्यास और वशिष्ठ पैदा हुए, राम और कृष्णकी क्रीड़ाभूमि रही। इसकी यह महिमामयी धरती ऋषियों और मुनियोंसे धन्य होती रही।"

एकबार किसी शिष्यने उनसे पूछा : स्वामीजी! 'मानव-प्रकृतिके प्रति जिज्ञासाका उदय सर्वप्रथम कहाँ हुआ? इसके उत्तरमें विवेकानन्दने कहा था : "मानव-प्रकृतिके प्रति जिज्ञासाका उदय तुम्हारे ही भारतमें हुआ और यहीं अन्तर और बाह्य विश्वको जानने-समझनेकी चेष्टा की गयी। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि आत्माके अमरत्वके सिद्धान्त सबसे

पहले यहीं प्रतिपादित किये गये। स्रष्टा-द्रष्टा ईश्वरके अस्तित्वका पता यहीं लगाया गया। मानव एवं प्रकृतिमें अन्तर्निहित उसकी शक्तिका साक्षात्कार यहींके महापुरुषोंने किया। धर्म और दर्शनकी पहुँच पराकोटितक यहीं हुई। इसी भारतभूमिसे अध्यात्म और दर्शनका ज्वार उठा और उसने विश्वको परिप्लावित कर दिया। और यही देश होगा जहाँसे एकबार पुनः जीवन और शक्तिका स्रोत उठकर आजके पतनशील और क्षणी मानव-समुदायको प्रेरणा और बल प्रदान करेगा।"

भारत मरकर भी जिन्दा ही रहा है। उसका अध्यात्म-बल घटनेके बदले बढ़ा है। वर्तमान भारतके चरित्रका उद्घाटन करते हुए विवेकानन्दने एक प्रवचनमें कहा था : "अपना ही यह भारत है, जिसने सदियोंतक आघातपर आघात झेले, विदेशी आक्रमणकारियोंके अत्याचार सहे हैं। संस्कृति एवं सभ्यताके विपर्ययपर विपर्ययका डटकर सामना किया है। अपना देश वही है, जो विश्वमें चट्टानकी दृढ़ता लिये है और जिसका तेज तथा प्राण-शक्ति अजर-अमर है। तुम सब पूछोगे कि अपने देशका जीवन क्या है? उत्तर होगा, आत्माकी प्रकृति ही इसका जीवन है—अनादि, अनन्त और अमर! और सौभाग्यकी बात है कि हम सभी उसी भारत जैसे महान् देशकी सन्तान हैं।"

प्राचीन भारतके अस्तित्वकी यदि कोई आलोचना करता, तो स्वामीजीको उससे बड़ा दुःख होता था। वे इसी प्राचीनताको भारतको आत्मा मानते और इसी अतीतके बलपर भविष्यके मृत्युंजयी भारतका निर्माण चाहते थे। एक दिन किसी आलोचकने उनसे पूछा : 'अतीतकी ओर देखनेसे अवनति होती है, और कुछ प्राप्त नहीं होता। इसलिए आप जैसे समाज-सुधारक सन्तको भविष्यकी ही बात करनी चाहिए।' स्वामीजीने इसके उत्तरमें कहा था : "मेरे मित्र! तुम्हारा कहना भी सत्य है। लेकिन एक बात याद रखनी ही होगी कि 'भविष्यके निर्माणमें अतीतका भी योग होता है'। जहाँतक देख सको, पीछे मुड़कर देखो और अतीतके ज्ञान एवं शक्तिके स्रोतसे प्रेरणा और दिशा प्राप्त करो। फिर भविष्यके भारतको उज्ज्वलतर और महत्तर बनाओ—उससे भी उज्ज्वल और महान्, जितना वह पहले कभी रहा हो। हमारे पूर्वज महान् थे—हमें सबसे पहले यही याद रखना चाहिए। हमें अपने जीवन और अस्तित्वके तत्त्वोंको समझना होगा और पहचानना होगा उस रक्तको, जो हमारी धमनियोंमें प्रवाहित है। हमें उस रक्तमें आस्था होनी चाहिए और विश्वास होना चाहिए उस आस्था और अतीतकी महत्ताकी चेतनाद्वारा हमें ऐसे भारतका निर्माण करना होगा, जो पहलेसे अधिक गौरवमय तथा तेजोमय हो। भारतने पतनके भी दिन देखे हैं। मैं इससे घबराता नहीं, क्योंकि ऐसे दिन आते ही हैं और प्रत्येक राष्ट्र और जातिके जीवनमें उन्हें आना ही चाहिए। एक विशाल वृक्षको देखें! बढ़ता है, फूलता है, फल देता है। वह फल धरतीपर गिरता और मिट्टीमें मिल जाता है। किन्तु उसीमेंसे एक नवीन अंकुर जन्म लेता है और उससे एक नया विशाल वृक्ष उग आता है। भारतकी अवनति और पतनका वह काल भी आवश्यक ही था। इसी पतन और अवनतिके बीच वह भावी भारत उठ रहा है, उसकी शाखाएँ उत्तरोत्तर व्यापक हो रही हैं और उनमें नयी कोपलें फूट रही हैं।"

अन्य देशोंकी समस्याओंकी अपेक्षा हमारे देशकी समस्याएँ अधिक बड़ी और काफी उलझी हुई हैं, जिनमें जाति, धर्म और भाषा-समस्याएँ प्रधान हैं। लेकिन स्वामी विवेकानन्द इन समस्याओंको समस्या ही नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि "जाति, धर्म और भाषाके मेलसे एक राष्ट्रका निर्माण होता है।" सचमुच संसारके अन्य राष्ट्रोंको बनानेवाले तत्त्व कम हैं। यहाँ तो जातियोंपर जातियाँ कितनी खड़ी हैं! उन्होंने लिखा है: "यहाँ आर्य, द्रविड़ तातार, तुर्क, मुगल और यूरोपीय लोग और संसारकी अनेक जातियाँ आयीं तथा एकदम घुल-मिल गयीं। जातियोंके रक्त ही नहीं मिले, भाषाओंका भी सम्मिश्रण अद्भुत है। यूरोपीय और पूर्वी जातियोंमें रीति-रिवाज और व्यवहार आदिकी जितनी भिन्नता है, उससे कहीं भिन्नता यहाँ मिलती है, लेकिन उसी भिन्नतामें एक अलौकिक एकता भी है।"

एकबार किसी शिष्यने उनसे लिखकर पूछा कि 'आपकी कल्पनाके मृत्युंजयी भारतका आधार क्या होगा?' इसके उत्तरमें स्वामीजीने लिखा था: "परम्परा और धर्म।" सचमुच देखा जाय तो इसी आधारपर हमारे राष्ट्रकी एकताका भवन खड़ा है। यूरोपमें राष्ट्रिय एकता है। राजनीतिक विचारों द्वारा तो एशियामें धार्मिक आदर्शोंसे राष्ट्रिय एकता है। भारतके भविष्यके लिए धार्मिक एकता पहली आवश्यक शर्त है। भारतकी धरतीपर एक ऐसे व्यापक धर्मकी प्रतिष्ठाकी आवश्यकता है, जो सबको मान्य हो, सबको स्वीकार हो। उसी व्यापक धर्मका अभिप्राय बताते हुए स्वामीजीने एक जगह लिखा है: "मेरा अभिप्राय वह धर्म नहीं है, उस तरहका धर्म नहीं है जिसकी बात मुसलमान, बौद्ध अथवा ईसाई करते हैं। मेरा अर्थ भिन्न है। हम सब जानते हैं कि कुछ ऐसी बाते हैं, जो सभी धर्मोंमें समानरूपसे मान्य हैं, सभी सम्प्रदायोंके लोग जिन्हें स्वीकार करते हैं, भले ही उनके अपने-अपने अलग-अलग निष्कर्ष हों, अलग-अलग उपदेश और आदेश हों। अतः मूल-भूत बातें सभी धर्मोंमें एक-सी हैं, वे ही हमारे धर्ममें भी इस तरह हैं कि अपनी-अपनी सीमाओंमें सबको अपने-अपने ढंगसे जीनेकी पूरी स्वतन्त्रता सुरक्षितता हैं। हम यही चाहते हैं कि वे सर्वसम्मत मूलभूत बातें भारतके सभी लोग जीवनमें उतारनेका प्रयास करें। यही कदम सबसे पहले उठाया जाय। यही पहला कदम भावी भारतके निर्माणके लिए आवश्यक है।"

सकलीकरणका स्वरूप

श्री एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी

★

सकलीकरण तान्त्रिक-प्रक्रिया-विशेषका नाम है। पूर्णस्वरूपके रूपान्तरको सकलीकरण कहा जाता है। जीवावस्था अर्थात् इस भौतिक शरीरमें रहते हुए शिवत्व-प्राप्ति एवं उसका बोध हो जाय तो समझना चाहिए कि पूर्णरूपान्तरण हो गया। तान्त्रिक उपासना अथवा साधनाका मूल उद्देश्य है, पशुभाव या जीवत्व-भाव मिटाकर पूर्णत्वप्राप्ति करना। जीवावस्था ही पशु-अवस्था कहलाती है। अनादि सृष्टिधाराके नियमानुसार आत्मा अपने स्वरूपको भूलकर माया, प्रकृति और भौतिक धारामें पड़कर जीवत्व-लाभ करता है। यथार्थमें देखा जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि अखण्ड आत्माका खेल ही है।

आत्मा अपने अखण्ड स्वरूपके बोधसे च्युत होनेके कारण सृष्टिधारामें पड़ता है और प्रकृत्यादि स्थानोंमें संकुचित प्रमातृताका बोध होनेपर उसीको अपना निश्चित स्वरूप समझता है। वह उसी प्रमातृ-दशाके अनुसार अपनेसे अलग भोगसामग्री समझकर ग्राह्य ग्रहण-ग्रहीतास्वरूप त्रिपुटीमें पड़कर अपना वैसे ही स्वरूप निर्धारित कर लेता है। अन्तोगत्वा इस साढ़े तीन हाथकी देहमें 'मैं हूँ' इस बोधके कारण अपनेको निर्दिष्ट व्यक्ति-विशेष समझकर देह-युक्त जीव बनकर अनन्त प्रकारके सुख दुःखोंका भागी बनता एवं महाघोर संसार-चक्रमें निरन्तर घूमता रहता है। यह बात सत्य होनेपर भी स्वरूप-विस्मृतिके साथ स्वरूपका यह आभास जाने या अनजाने चल ही रहा है। अपने स्वरूपकी विस्मृतिसे ही जीवावस्था 'पशुदशा' कहलाती है। पशुदशाको प्रमातृत्व-संकोचके अनुसार अवस्था-विशेषकी प्राप्ति होती है।

यदि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय और संकुचित प्रमातृत्व हट जाय, तो प्रत्येक जीव शिव-स्वरूप है, इसमें सन्देह नहीं। यह हुई यथार्थ बात, किन्तु इस प्रकारका अनुभव एवं निश्चित बोध व्यक्तिको नहीं होता। यदि वह केवल किसीसे सुनकर इस प्रकारके बोधको मनमें लाता है, तो वह केवल उसके लिए दार्शनिक सत्यमात्र है (philosophilal Truth)। मुख्य लक्ष्य है, जीवत्वका संकोच किसी भी प्रक्रिया द्वारा हट जाय। यदि अकस्मात् अपने अखण्ड यथार्थ-स्वरूपका बोध हो जाय, तो समझना चाहिए कि जीवको पूर्णत्व प्राप्त हो गया है।

जड़ देहको चिदात्मक बनाकर अमरत्व-प्राप्ति करना ही सकलीकरणका मूल उद्देश्य है। जीवको क्रमशः साधना द्वारा पूर्णत्वकी प्राप्ति होती है। जहाँ अकस्मात् पूर्णत्व प्राप्ति हो, वहाँ भी अन्ततः एक विलक्षण सूक्ष्म प्रक्रियाका क्रम अवश्य मानना ही पड़ेगा, भले ही वह क्रम हमें दृष्टिगोचर न हो।

सकलीकरण एक प्रकारकी पूर्णरूपान्तरकी प्रणाली है। इस सकलीकरणका तन्त्रग्रन्थोंमें प्रचुर विवरण मिलता है। किन्तु हम यहाँ 'विरूपाक्ष पंचाशिका' के आधारपर सकलीकरण-प्रक्रियापर कुछ दृष्टिपात करेंगे।

साधनाका मूल उद्देश्य है रूपान्तर। प्राचीनकालमें साधनाका लक्ष्य था मोक्षकी प्राप्ति। मोक्षका क्या स्वरूप है, इसको लेकर पुनः सबके सामने रूपान्तरका ही प्रश्न उठता है। शिवत्व-प्राप्ति अथवा अखण्डस्वरूपकी प्राप्ति बिना देहप्राप्तिके नहीं हो सकती और रूपान्तर-साधना पूर्ण नहीं कहलाती; क्योंकि जिस स्वरूपकी साधना की जाती है, चाहे, वह जिस किसी इष्टको हो—देव, देवी या देवता-विशेषकी क्यों न हो, उस इष्टस्वरूपमें अपने स्वरूपका पूर्ण रूपान्तर हुए बिना सिद्धि नहीं हो सकती।

जो कोई व्यक्ति उपासना अथवा उससे जो अनुभव प्राप्त करता है, उसकी प्रगति, उसके भाव-परिवर्तनकी मात्रापर निर्भर है। सबको सिद्धि-लाभ होनेपर भी सिद्धिकी विलक्षणता और रूपान्तरकी प्राप्तिके अनुसार उसकी प्राप्ति एवं उसके वितरणका अधिकार मिलता है। सम्पूर्ण रूपान्तरका मतलब पूर्णप्राप्ति या रूपान्तरकी नाना प्रकारकी प्रक्रिया है। रूपान्तरके अनुसार प्राप्तिकी विलक्षणता माननी पड़ेगी। रूपान्तरके फलस्वरूप स्थूलमें यथार्थ भौतिक स्थितिमें उसकी प्राप्ति होनी चाहिए।

स्वरूपान्तरकी प्राप्ति और उसका स्वरूप

रूप एवं रूपान्तरके विषयमें कुछ बातें स्पष्टताया समझनी चाहिए। अपने स्वरूपमें यदि परिवर्तन होता है, तो उस परिवर्तनका गुण-धर्म स्वरूपमें अवश्य है; अन्यथा परिवर्तन किस प्रकार होता? अतएव यह मानना ही पड़ेगा कि स्वरूपमें सब कुछ है। जगत्का कोई भी पदार्थ रूपान्तरित किया जा सकता है; क्योंकि प्रत्येक वस्तुमें प्रत्येक पदार्थके परमाणु अनभिव्यक्त अवस्थामें रहते हैं। केवल उनको उद्बुद्ध करनेकी आवश्यकता है। उदाहरणस्वरूप ताम्रको विशिष्ट रस-प्रक्रिया द्वारा सोना बनाया जाता है। इसी प्रकार पशु-अवस्थामें अनन्त प्रकारकी यातनाएँ और कष्ट होनेपर भी उसी आत्मामें परम मङ्गलमय शिव स्वरूप भी विद्यमान है, इसको नहीं भूलना चाहिए। जीवमें शिवत्व प्राप्ति करनेकी सामर्थ्य रहती ही है। क्या इस प्रकारका रूपान्तर प्राप्त करनेके गुण अपनेमें हैं और यदि हैं तो क्या उनको अभिव्यक्त करनेके लिए सहायताकी आवश्यकता है? इसके उत्तरमें हम यह कह सकते हैं कि इसके लिए उन्मुख भावकी आवश्यकता है। किसी पक्षमें रूपान्तरका मतलब है, अपने स्वरूपको छोड़कर दूसरा स्वरूप धारण करना और अपने अस्तित्वको बिलकुल भूल जाना। नदीकी जल-धारा महासागरकी जलराशिमें मिलकर जिस प्रकार अपने स्वरूपको

भूल जाती है उसी प्रकार यह भी एक प्रकारका रूपान्तर है। किन्तु इस प्रकारके रूपान्तरमें अपना वैशिष्ट्य नहीं रहता। साधकको सकलीकरणद्वारा प्राप्त होनेवाला रूपान्तर इस प्रकारका नहीं है। सकलीकरणका लक्ष्य यह है कि जिस महाशक्तिको प्राप्त किया जाता है, उसका स्थूलदेहतक अवतरण कराकर उस तेजःप्रवाहसे शरीरको शुद्ध रखते हुए स्थूलशरीरतकको चिन्मय बनाया जाता है। इसका तन्त्रसाहित्यमें विशेष महत्त्व है।

अब, जीव क्रमशः अपने षड् अध्वको किस प्रकार ध्वस्तकर, पशुत्व तकको नष्टकर अमृत स्वरूप, अमर शरीर एवं अमर शक्ति पाकर परमानन्दस्वरूप प्राप्त कर लेता है, इसका विचार किया जा रहा है।

साधारणतया जीवावस्थामें आत्मा इस परिनिष्ठित देहको ही अपना स्वरूप समझकर[1] 'मैं सम्पन्न हूँ, मैं कृश हूँ' आदि प्रकारसे भौतिकशरीरमें अस्मिताका बोध कर लेता है और देहको ही आत्माका स्वरूप समझकर अपनेसे बाहर दिखायी देनेवाले पदार्थको इदंतया समझता है। इस शरीरमें जो बोध है—'मैं आत्माका स्वरूप हूँ', उसमें अहंस्वरूपकी अनेक भूमियाँ हैं। बिन्दु, प्राण, शक्ति, मन और इन्द्रिय इन भूमियोंमें 'अहं' का बोध होता है। 'अहंका बोध बिन्दु-क्रमसे इन्द्रिय-भूमितक होता है।

साधारणतया प्रत्येक मनुष्यको इन्द्रिय-भूमिमें अहंका बोध रहता है। संकुचित एवं असंकुचित भेदसे बोध दो प्रकारके हैं। इन्द्रिय-भूमिमें सामान्य अहं-बिन्दु है। उसी प्रकार मनके स्तरपर भी अहंका बिन्दु है जैसे-जैसे इस अहंकी संकुचितता हटायी जाती है, वैसे-वैसे अहं-बोधका विकास होता जाता है।

वस्तुतः अप्रबुद्ध-अवस्थामें संकुचित बोधके कारण अपने शरीरको लेकर अहंका बोध होता रहता है और इस जगत्को इदंरूपेण अपनेसे अलग समझ लिया जाता है। इन्द्रियादि स्थानोंमें 'अस्मि'-बोधके अनुसार साधकको अवरोहण-भूमिमें बिन्दुतक जाना पड़ता है। धीरे-धीरे अहंका विकास करके सामान्य अहंतक पहुँचना चाहिए। बिन्दुतक पहुँचनेपर सामान्य अहं कहा जाता है, जो समस्त षट्-बिन्दुओंमें प्रकाशस्वरूप है। वह शुद्ध अहं कहलाता है। अथवा इस स्तरपर रहनेवाली शुद्ध चित्त-शक्तिको 'परावाक्'को भी संज्ञा दी जाती है।

वस्तुतः जिनको यह जगत् अपनेसे अलग भासित होता है, वे अप्रबुद्ध हैं। उन्हें 'भवि'-शब्दसे सम्बुद्ध किया जाता है। समस्त भुवनमण्डल अपनेसे बाहर भासित होते रहते हैं। शुद्धविद्याका उदय होते ही प्रबुद्ध-कल्प अवस्था जाग्रत् होती हैं। इस समय सहज साधककी गति अन्तर्मुख एवं ऊर्ध्वगतिसम्पन्न हो जाती है। इनको 'विद्याप्रमाता' कहा जाता है; क्योंकि इसमें अभेद प्रतीतिके बावजूद भेदप्रतीति भी रहती है। अभेदका उदय हो जानेपर भी उसमें भेदका संस्कार रह जाता है। इसको 'प्रबुद्ध-कल्प अवस्था' कहा जाता है। यहाँ बाह्य भेद-बुद्धि बिलकुल नहीं रहती, किन्तु आन्तरिक भेद-संस्कार रह जाता है। आत्मा स्वरूपमें अन्तःसंकल्प-विकल्प रूपसे अलग-अलग भासित होता रहता है। ग्राहक स्वरूपको चिदात्मक समझता है।

१. विरूपाक्ष-पञ्चाशिकाः श्लोक ३। २. विरूपाक्ष-पञ्चाशिका, २०७।

ग्राह्य वस्तुको मायाके प्रभावसे अलग समझता है। अप्रबुद्धको भवि, अणु और पशु संज्ञा दी गयी है।

प्रबुद्धावस्था

प्रवुद्ध-अवस्थाका मतलब है, अपनी शक्तिको जगा देना। इस अवस्थामें इदंतया प्रतीयमान जड-जगत् अहंतया प्रतीयमान प्रकाशस्वरूप स्वात्मामें दिखायी देने लगता है। इदंस्वरूपमें जो नानात्व है, वह सब अपने अहं आत्मामें ही भासित होता है।

चिदात्म-स्वरूप प्रकाशमें अभेदरूपेण जगत् भासित होता है, किन्तु पूर्णरूपेण भेद-बोध हटता नहीं। इस प्रकारके अनुभवको 'ईश्वरावस्था' कहा जाता है। क्रमशः भेद-प्रतिपत्तिकी दृढता हो जाती है। इस सुप्रवुद्ध अवस्थामें जगत् पूर्णरूपमें उद्भासित होता है। जिस प्रकार समुद्रमें अनन्त प्रकारकी तरंगें उदित होकर लीन हो जाती हैं, उसी प्रकार अपनेमें सब कुछ उद्भासित होता है। इस अवस्थामें उन्मना-पदकी प्राप्ति हो जाती है।

आत्मा स्वरूप-शक्ति ऊर्ध्वगतिसे निकलकर सब प्रकारके पाशोंको जला देता है। वह मूलाधारसे निकली अग्नि ऊर्ध्वमुखसे निकलकर बाह्यस्तर तक जाती है और वहांसे पुनः अमृतस्वरूप प्राप्तकर सम्पूर्ण शरीरको आप्लावित कर देती है।

चित्शक्ति केवल भेदको नहीं, अपितु सम्पूर्ण अध्वोंका शोधन कर लेती है, सम्पूर्ण विश्वकी शुद्धि कर लेती है। यह शुद्धप्रकाशात्मक दाह 'विश्वको देखते हुए स्वरूपमें स्थित होना' कहलाता है। उसी प्रकाशको 'विमृश्यमान चित्-चमत्कारोंका आप्लावन' कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आप्लावनके फलस्वरूप पूर्ण आत्मा परमानन्दका अनुभव कर लेता है। यही सकलीकरण है।

अध्वोंका स्वरूप

व्यष्टिस्वरूप और समष्टिस्वरूपमें पूर्ण जगत् अध्वरूपमें चिदात्मामें भासित हो रहा है। इन अध्वोंको सम्पूर्णरूपेण समझना चाहिए। साधकके पूर्णत्व-लाभ करनेके लिए चित्त-शक्तिको प्राप्तकर अध्वोंका शोधन कर लेना चाहिए। जबतक षडध्वका भेदन नहीं करते, तब-तक परमानन्दस्वरूप अमृतत्व-लाभ नहीं हो सकता। प्रथमतः कालाग्नि-स्वरूप मूलाधारमें रहनेवाली अग्निको प्रज्वलित कर सब अध्वोंका नाश कर देना चाहिए।

प्राणमें षडध्वा है। प्राणबिन्दुमें षडध्वाका उदय होता है। वस्तुतः भोग्य, भोक्ता और इनका सम्बन्ध 'विश्व' कहलाता है। इसको तान्त्रिक-भाषामें सोम, रवि 'वह्नि' भोग्य वस्तु और इन्द्रिय इनका अनुभव करनेवाला भोक्ता कहते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म जागतिक वस्तु चित्-शक्तिका स्वरूप है। चित्त-बिन्दुमें भी यह नानावैचित्र्य देखनेको मिलता है। चित्-बिन्दुको समझनेके लिए छः बिन्दु बनाये गये हैं। इसी चिदात्मक स्वरूपका 'सूर्य' शब्दसे व्यवहार किया गया है। इसको 'परममार्तण्ड' कहा जाता है; क्योंकि इसी प्रकाशसे शब्दार्थ-स्वरूप षडध्व प्रकाशित है। इनमें शब्दरूपी अर्थात् परा वाक् स्वरूपसे वर्ण, पद और मन्त्र

निकलते हैं। अर्थस्वरूपसे कला, तत्त्व और भुवन निकलते हैं। इस वाच्य-वाचक षडध्वोंकी समष्टिको 'विश्व' कहा जाता है। अहंबलके प्रकाशसे इन अध्वोंको प्रकाशित किया जाता है। इसीसे चार प्रकारके अण्डोंकी भी अभिव्यक्ति हो जाती है।

अहम् योगियोंके हृदयमें नित्य प्रकाशित प्रकाश है। अतएव इस अहंको 'परमानन्द' कहा जाता है। अहंके आवेश-बलसे सृजन भी हो जाता है।

इस प्रकार प्रबुद्ध-अवस्थामें भेदा-भेददशाका प्रादुर्भाव समझना चाहिए। इसको 'अहं इदं'स्वरूप कहा जाता है। इसी अवस्थाको 'ईश्वरावस्था' कहते हैं, क्योंकि आत्म-स्वरूप प्रकाशमें जगत्‌रूपी विमर्श देखनेमें आता है।

इसी प्रकार 'अहं-अवस्था'में वर्ण और पद दोनोंको दग्ध करनेसे अपने आत्मप्रकाश-स्वरूपमें दोनों दग्ध हो जाते हैं। इससे अपनेमें (अपने आत्माके प्रकाशमें) जगत् उन्मेष-निमेष-अवस्था प्राप्त कर लेता है। यही सुप्रबुद्ध-कल्प अवस्था है। इसको 'सदाशिव-अवस्था' भी कहा जाता है। पूर्ण षडध्व दग्ध हो जानेपर शक्तियुक्त होकर जीव शिवभाव प्राप्त कर लेता है। यह आरोहक्रम है।

कुण्डलिती-शक्ति जग जानेपर प्रत्येक पदपर अर्थात् अध्वमें रहनेवाली प्रमातृ-दशाका अनुभव करके अन्तिम अध्वतक जाकर पूर्णमहाशक्तिका स्पर्श कर पुनः अवरोह-क्रमसे विन्दु, प्राण, शक्ति और मनके क्रमसे इन्द्रिय-भूमिमें लाकर उस अमृतको स्थूलतक पहुँचा देता है। इस अत्यन्त दुःखदायक संसारमें आकर शरीरमें रहते हुए आत्मामें पूर्णरूपेण सच्चिदानन्द-स्वरूप आनन्दका उल्लास रह जाता है। इस प्रकार बिन्दु, प्राण, शक्ति, मन और इन्द्रियतक महाशक्तिका स्पर्श होना ही पूर्णत्व कहलाता है। इस शक्तिका स्थूलतक आविर्भाव ही सकली-करण कहलाता है। स्थूल तक शक्तिका प्रकाश रहता है।

सम्पूर्ण जीवनस्वरूपको परिवर्तित करके पूर्णशक्ति प्राप्त करना ही सकलीकरण है। इस प्रकार जीवित-दशामें परिवर्तन करनेवाली प्रणाली विशेषका नाम सकलीकरण है।

युधिष्ठिरका विराग

श्री रामनारायण उपाध्याय

जिस तरह युद्धसे पूर्व, अर्जुनको मोह हुआ था, उसी तरह युद्धके बाद युधिष्ठिरको वैराग्य हो गया और एक महीने बाद जब उन्होंने, युद्धमें मारे गये पारिवारिक जनोंको तिलान्जलि देकर, हस्तिनापुरमें प्रवेश किया तो देवर्षि नारदने उनसे पूछा—राजन् युद्धमें आपकी विजय हुई है। अब तो आप प्रसन्न है न ?'

युधिष्ठिरने कहा—'मेरे लिए यह जीत हारके समान हो गयी है। मैं इससे बहुत दुःखी हूँ।'

अर्जुनकी ही तरह युधिष्ठिरकी भी बड़ी विचित्र प्रवृति थी। वे समय पर चूक जाते और बादमें पछताते थे। वे अवसर आनेपर अपने कर्तव्यको भूलकर दूसरेकी चिन्तामें भटक जाते थे। उन्होंने मानो अर्जुनकी ही गीता वाली भाषामें कहा—'त्रैलोक्यका राज्य भी हमें प्रसन्न नहीं कर सकता। पृथ्वीके लिए हमने अपने बन्धु बान्धवोके वधका पाप किया है। जैसे कुत्ते मांसके लिए झगड़ते हैं, वैसा ही कलह हमने राज्यके लिए किया है। अर्जुन! मैं तुम सबसे विदा लेकर वनमें चला जाऊँगा। यह राज्य और भोग मुझे नहीं 'चाहिए।'

इसपर अर्जुन भीम नकुल, सहदेव, और द्रौपदो तकने युधिष्ठिरको समझाया।

अर्जुनने कहा—'यह पृथ्वी जैसे नृग दिलीप, नहुष अम्बरीष और मान्धाताके पास थी, वैसे ही आपके पास आयी है। इसके प्रति अपने कर्तव्यका पालन कीजिये।'

द्रौपदीने कहा—राजन ! क्लीव नहीं होना, चाहिए।' यह पृथ्वी तुम्हें दानमें नहीं मिली। न तुमने इसे घूस देकर प्राप्त किया है तुमने बड़े बड़े वीरोंको पछाड़कर इसे पाया है। नाना जनपदोंसे युक्त इस जम्बूद्वीपको तुमने दण्डकी शक्तिसे अर्जित किया है। अब सुखपूर्वक प्रजावर्गका पालन करो।'

इतनेपर भी जब युधिष्ठिरका शोक दूर न हुआ तो व्यासने ऐसी युक्ति निकाली जिससे उनका डांवांडोल मन भी कुछ देर सोचनेके लिए ठहर गया। युधिष्ठिर बार-बार कहते थे कि बन्धु-बान्धवोंको मारनेसे मुझे पाप लगा है। अतएव उनकी इस कमजोरीको पकड़ते हुए व्यासने कहा—'राजाके लिए ऐसे पापका प्रायश्चित अश्वमेध यज्ञ करनेसे ही जाता है।'

अश्वमेघ यज्ञ कोई खेल नहीं था। उसके लिए एक भारी तैयारी करनी पड़ती थी और उसमें प्रचुर धन लगता था। व्यासने सोचा कि इससे युधिष्ठिरका मन बहलेगा और संचित धनकी गरमी भी कम हो जायेगी।

युधिष्ठिरको बात जची। फिर व्यासने कृष्णसे युधिष्ठिरको समझानेके लिए कहा। कृष्णने युधिष्ठिरका शोक शांत करनेके लिए उन्हें सृंजय और नारदकी कहानी सुनायी। कहते हैं सृंजयको जब पुत्र शोक हुआ तो नारदने उन्हें, महापराक्रमी और धर्मात्मा सोलह राजाओंके चरित्र सुनाकर कहा था कि 'जब वे भी मृत्युको प्राप्त हो सकते हैं तो औरोंकी क्या बात है?'

कृष्णकी बात सुनकर युधिष्ठिरने हस्तिनापुरमें प्रवेश करना स्वीकार कर लिया। उनके स्वागतमें नगरको सुन्दर ढंगसे सजाया गया था। युधिष्ठिरके रथमें १६ बैल जुते थे और वह पाण्डु कम्बल तथा व्याघ्राम्बरसे सजा था। आगे धृतराष्ट्र और गांधारीका रथ था और पीछेके रथमें पाँचो भाई बैठे थे। सात्यकि और कृष्णका रथ उनके पीछे था। द्रौपदी, कुन्ती और अन्य महिलाएँ भी उनके पीछेके रथमें सवार थीं। बादमें अनेक रथ और हाथियोंकी सवारियाँ थीं। समूचा राजमार्ग पताकाओंसे सज्जित था और जनता उनका जयघोष कर रही थी।

यह भी संयोगकी बात है कि जिस तरह रामके अयोध्यामें प्रवेश करनेपर सबने उनका स्वागत किया पर एक धोबी उनकी आलोचना करनेसे नहीं चूका। उसी तरह युधिष्ठिरके—हस्तिनापुरमें पहुँचने पर सबने उनका स्वागत किया। पर एक चार्वाक मतके माननेवालेने आगे बढ़कर युधिष्ठिरको फटकारते हुए कहा—'युधिष्ठिर! तुम जातिवध करनेवाले पापी हो। तुम राज्यपर बैठनेके योग्य नहीं हो।'

इससे युधिष्ठिरका मन तिलमिला उठा और उन्होंने सिर्फ इतना ही कहा—'मैं स्वयं दुःखी हूँ, अतः मेरे लिए आप ऐसे वचन मत कहिए।'

उसके बाद कृष्णके कहनेसे—पुरोहित धौम्यके द्वारा सबकी उपस्थितिमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेक किया गया और उन्होंने विधिवत् अपना महान राज्य सँभाला। सबसे पहिले उन्होंने प्रजाकी सांत्वनाके लिए कुछ शब्द कहे, उसके बाद पूर्वजोंको जिलान्जलि दी फिर अपने भाइयोंके कष्ट-सहनकी चर्चा करते हुए उनसे विश्राम करनेकी प्रार्थना की। साथ ही हरेकको कौरवों द्वारा छोड़ा हुआ एक-एक राजमहल भी सौंप दिया।

उसके पश्चात् युधिष्ठिरने कृष्णकी प्रशंसामें भी कुछ वाक्य कहे। लेकिन उसके उत्तरमें कृष्णने कुछ नहीं कहा—वरन् मनकी समाधिमें चले गये। इससे युधिष्ठिरको बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने कृष्णसे उनके मौनका कारण पूछा।'

कृष्णने कहा—'भीष्म इस समय शर-शय्यापर पड़े हुए बुझती हुई अग्निकी भाँति शान्त हो रहे हैं और वे हृदयसे मेरा स्मरण कर रहे हैं। इसीसे मेरा मन उनके पास चला गया था। मैं तुमसे कहता हूँ कि अब तुम भी उनके पास चलो और उनसे चारो वेद, चारो आश्रम, और चारों वर्णोंके धर्मोंके बारेमें पूछो। कौरवोंमें धुरन्धर भीष्मका अन्त हो जानेपर ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। इसलिए मैं तुम्हें उनके पास चलनेके लिए कह रहा हूँ।'

तब युधिष्ठिर कृष्णको साथ लेकर अपने चारो भाइयों और कृपाचार्य आदि गुरुजनोंके साथ कुरूक्षेत्रमें शरशय्यापर लेटे भीष्म पितामहके पास पहुँचे।

जिन क्षणोंमें कृष्णका मन समाधिस्थ हुआ था और वे भीष्मका चिन्तन कर रहे थे; उन्हीं क्षणोंमें भीष्मका मन भी समाधिस्थ हो गया था और वे कृष्णका ध्यान करने लगे थे। कहते हैं, ध्यानकी उसी अवस्थामें उन्होंने कृष्णके लिए एक अत्यन्त विलक्षण स्तोत्र पढ़ा था जो 'भीष्म-स्तवराजके' नामसे प्रसिद्ध है।

भीष्मके निकट पहुँचकर और उन्हे शरशय्यापर पड़ा देखकर कृष्णका मन खिन्न हो गया और उन्होंने कहा—है शान्तनुपुत्र! आपका शरीर और मन कैसा है? एक काँटेके चुभनेसे शरीरमें व्यथा होती है फिर आप तो वाणोंकी शय्यापर पड़े हैं, किन्तु अपने तप और ब्रह्मचर्यकी शक्तिसे आप इस घोर कष्टको भी सहनेमें समर्थ हैं। देखिये युधिष्ठिर आपके पास आये हैं। इनका मन शोकसे दुखी है। आप चार वर्ण, चार आश्रम, चार वेद, चातुर्होत्र, सांख्य, योग, इतिहास, और धर्म-शास्त्र इन सब विषयोंको जाननेवाले हैं, कृपाकर युधिष्ठिरको उपदेश दीजिये।'

इस पर पहिले तो भीष्मने अपनी पीड़ाका वर्णन करते हुए कहा—'मुझे बड़ी वेदना हो रही है फिर मुझमें तो कोई प्रतिभा भी नहीं हैं और न मेरी बुद्धि ही इस समय प्रसाद गुणसे युक्त है मेरी वाणी दुर्वलतासे बैठी जा रही है, ऐसी अवस्थामें कैसे बोल पाऊँगा। आप ही मुझपर कृपा कीजिये, आपके सामने तो वृहस्पति भी कुछ बोल नहीं पाते; इसलिए जो युधिष्ठिरके लिए हितकारी हो उसे आँपही कहिये।'

भीष्मके ऐसे विनीत और सत्य वचन सुनकर कृष्णकी आंखोंमें आँसू छलछला आये और उन्होंने कहा—'हे कौरवोमें धुरन्धर! आपका ऐसा कहना ठीक ही है। भीष्म! मेरे प्रसादसे आपको न ग्लानि रहेगी, न मूर्च्छा, न दाह, न पीड़ा। भूख और प्यास भी आपको नहीं सतायेंगी और समस्त ज्ञान आपको प्रतिभासित हो जायँगे। आप पूर्व और उत्तर कालके समस्त धर्मोंके कुशल वक्ता हैं और आप उन समस्त धर्मोंको जानते भी हैं। अतएव मेरा नवेदन है कि जैसे पिता अपने पुत्रसे कहता है ऐसे ही आप समस्त राजाओंको 'राज-धर्म'का उपदेश दीजिये।'

यह आदेश पाकर भीष्मने जो उपदेश दिया वहीं आजतक विश्वकी राजनीतिका मूल मंत्र माना जाता है।

पुण्यकीर्ति स्व० गजाधरजी सोमानी

★

भारतके सुप्रसिद्ध उद्योगपति श्री गजाधरजी सोमानी हिन्दू-धर्म और संस्कृतिके महान् उन्नायक, हिन्दुत्वके प्रति गहरी आस्था रखनेवाले, धर्मसेवी, जनसेवक, समाज एवं राष्ट्रकी सेवामें सदा संलग्न, गोभक्त और आस्तिक होनेके साथ ही परम शालीन एवं विनयशील थे। उन्होंने उद्योगको राष्ट्र एवं जनताकी सेवाका साधन माना और अपने उद्योगोंके श्रमिकोंको बराबर सुविधाएँ देते रहनेका अनुकरणीय आदर्श दूसरे उद्योग पतियोंके समक्ष प्रस्तुत किया। जब भी देश और धर्मपर किसी प्रकारके संकटकी संभावना हुई, उस समय सोमानीजीने उद्योगोंके रहने-जानेकी चिन्ता छोड़कर खुले दिलसे सरकारी नीतियोंकी कटु आलोचना की। उन्होंने उद्योगोंको राष्ट्रीय आकाङ्क्षाओंके साथ समन्वित करके संचालित किया था। राजस्थानकी प्रख्यात विभूति धर्म-प्राण सेठ श्रीहजारीमलजी सोमानी आपके पिता थे। नागौर जिलेके मौलसर नामक ग्रामको आपकी जन्मभूमि होनेका गौरव प्राप्त था। आप १३ अप्रैल सन् १९७७ को इस धरतीपर अवतीर्ण हुए। पिताके धार्मिक संस्कारोंका आपके जीवनपर गहरा प्रभाव पड़ा था। आपने छोटी अवस्थामें ही सहज प्रतिभाके बलपर अपने पिताके उद्योगोंको सँभाल लिया और उन्हें आगे बढ़ानेमें आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की।

सन् १९३४ में सोमानीजी बम्बई आये और उसी वर्ष बांगुड़ परिवारके साझेमें सोमानी परिवारने 'श्री निवास कपास-मिल्स'की स्थापना की। फिर अनेक व्यापारिक इकाइयाँ इस औद्योगिक वर्गमें शीघ्र ही संमिलित हो गयीं। इसके ज्येष्ठ भागीदार श्री गजाधर सोमानी ही थे। आप सन् १९५२ से ६२ तक लगातार दस वर्ष संसद्के सक्रिय सदस्य रहे। अनेक शिक्षण-संस्थाओं तथा धार्मिक संस्थाओंको अपने सम्पर्क और सहयोगसे आपने अनुप्राणित किया था। बम्बई, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेशमें अनेक विद्यालयों और महाविद्यालयोंका आपके द्वारा समारम्भ हुआ था।

व्यापारकी देखभालके साथ-साथ आप राष्ट्रीय आन्दोलनकी गतिविधियोंमें भी रुचि लेते रहे। महामता पं० मदनमोहन मालवीयजी, लाला लाजपतराय, तथा देशबन्धु चितरंजन-दास आदि नेताओंके उद्बोधक भाषणोंसे आपका हृदय अधिक प्रभावित था। सनातनधर्म सम्मेलनमें भी सक्रिय भाग लेकर सोमानीजीने अपना जीवन धर्म-सेवाके लिए समर्पित करनेका संकल्प लिया था। व्यापारिक रुचि उनके लिए सामाजिक सेवाका पवित्र माध्यम मात्र थी; इसीलिए उन्होंने अपने व्यापारको दरिद्रनारायणकी सेवाका माध्यम बना रक्खा था। हिन्दु-धर्मके अनेक सन्तों, महात्माओं तथा मन्दिर-ट्रस्टोंके साथ सोमानीजीका जीवन जुड़ा हुआ था। आपने जीवन भर हिन्दू-धर्म और समाजके विभिन्न सम्प्रदायोंमें पारस्परिक सौहार्द एवं सामंजस्य निर्माण करनेका अथक प्रयास किया।

सन् १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमणके समय लालबहादुर शास्त्री द्वारा आयोजित स्वर्णबाण्ड-योजनामें श्री सोमानीजीने दिल्लीके एक समारोहमें शास्त्रीजीको ५ हजार तोले सोनेके

जेवर भेंट किये। सोमानी-परिवारकी महिलाओंने राष्ट्रीय तथा धार्मिक कार्य मानकर योजनामें ये आभूषण अर्पित किये थे। इससे पूर्व १९६२ में चीनके आक्रमणके समय भी श्री गजाधरजीकी धर्मपत्नीने अपने आभूषण राष्ट्रीय सुरक्षाकोषमें भेंट कर दिये थे।

श्री सोमानीजी हिन्दू-संस्कृतिके अनन्य उपासक और पोषक थे। आपका यह सुस्पष्ट मत था कि 'भारतकी प्राचीन संस्कृति, शास्त्र तथा धर्मके प्रचार-प्रसारसे ही देशकी समृद्धि एवं गौरव संभव है। इसीलिये आपने संसदमें हिन्दू कोडबिल एवं गोहत्याका डटकर विरोध किया था। आपने सदा यह आवाज उठायी कि 'अंग्रेजीको हटाकर हिन्दीको ही राष्ट्रभाषाके सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाय।' श्री सोमानी रामानुजसंप्रदायके अनुयायो होनेपर भी हिन्दू समाजके सभी अंगोंके प्रति सहज आत्मीयताकी भावना रखते थे। उनको मान्यताके अनुसार सनातन-धर्मी, आर्यसमाजी, जैनो, बौद्ध एवं सिक्ख सभी एक ही धर्मप्राण भारतके पुत्र हैं। अतः सबको परस्पर सहिष्णुता रखकर संगठित हो नास्तिकता तथा कुरीतियोंको मिटानेका प्रयत्न करना चाहिए। महान् गोभक्त लाला हरदयालजीको आपने गोहत्याविरोधी अभियानमें पूर्ण सहयोगका विश्वास दिलाया था और उनके स्वर्गीय हो जानेके बाद भारत-गोसेवक-समाजके अध्यक्ष बने रहकर आपने जीवनके अन्तिम क्षणतक गोहत्याके कलंकको दूर करनेका प्रयास किया।

भारतके सभी सम्प्रदायोंकी एकताके लिए गठित हिन्दू-विश्वपरिषदके महत्त्वको आपने हृदयंगम किया और उसके कार्यकारी अध्यक्षके पदपर रहकर उसके उद्देश्यकी सफलतामें पूर्ण सहयोग दिया। आपने अयोध्यामें आयोजित रामजन्मोत्सव-समारोहकी अध्यक्षता करते हुए कहा था कि 'भगवान्की भक्ति और उपासना तभी सार्थक होगी जब समस्त हिन्दू धर्म और संस्कृतिके समुत्थानमें प्राणपणसे योग देंगे।' रामानुज और रामानन्द सम्प्रदायके आचार्योंसे सोमानीजी यह प्रार्थना करते थे कि 'आप हिन्दूसमाजको ऐसी प्रेरणा दें जिससे वह अपने विलुप्त गौरवको पुनः प्राप्त कर सके और कोई विधर्मी उसकी ओर कुदृष्टि न डाल सके।' आप राम-चरितमानसके कथा-वाचकोंसे कहा करते थे कि 'आप लोग भगवान् रामके चरित्रका गान करनेके साथ हिन्दू-समाजमें भावात्मक एकता उत्पन्न करें।'

आपने धर्माचार्योंसे यह अनुरोध किया था कि 'आप सब सम्प्रदायोंको स्नेहसूत्रमें बाँधें और रामचरितमानसके माध्यमसे हरिजन-बन्धुओंमें भी धर्मभावना पैदा करें।'

विदेशी ईसाई-मिशनरियाँ धनके बलपर जो सीमावर्ती क्षेत्रोंकी गरीब जनताको धर्मान्तरित करती थीं, इससे सोमानीजीको कष्ट होता था। उनका मत था कि 'ये ईसाई लोग न केवल धर्मापहरण करते हैं अपितु जनतामें अराष्ट्रीय भावनाएँ भरकर देशकी एकताके लिए खतरा उत्पन्न करते हैं।' इसीसे उन्होंने हिन्दू-विश्व-परिषदके माध्यमसे आदिवासी क्षेत्रोंमें कुछ सेवा-कार्य चालू कराया था और एक विशाल योजना भी बनायी थी। ज्ञात हुआ है कि मृत्युके कुछ ही दिन पूर्व भी वे देशके विभिन्न भागोंमें जीर्ण-शीर्ण मन्दिरोंके पुनरुद्धार और संस्थापनाके निमित्त एक ट्रष्ट बनानेके लिए प्रयास-रत थे। श्रीनिवास सेवामण्डल, जो एक समाजसेवा-संगठन है, उन्हींके प्रयत्नों सत्फल है।

(शेष पृष्ठ ६० पर)

होली

होलिकोत्सव भारतवर्षका प्राचीन कालसे परिचालित प्रिय त्यौहार है। इसके आगमनके एक मास पूर्वसे ही जन-जनके मानसमें एक अपूर्व उल्लास तरङ्गायमान हो उठता है। जीवन आमोद-प्रमोदमय बन जाता है तथा गाँव गाँवमें ढोल और झांझकी मधुर ध्वनिके साथ वसन्तके गीत गूँज उठते हैं। प्रेम और संगठनका सन्देश देनेवाला यह पर्व जन-समाजमें भावात्मक एकता उत्पन्न करता है।

होलिका-दाहके साथ अनेक कथाएँ जुड़ी हुई हैं। कुछ लोग 'होलिका'से उस राक्षसीको ग्रहण करते हैं जो भक्तराज प्रहलादको जलानेके लिए उद्योगशील थी। उसपर अग्निका प्रभाव नहीं पड़ता था; परन्तु भगवान्की कृपासे भक्तका बाल-बांका नहीं हुआ और वह होलिका भस्मसात् हो गयी। कुछ लोग होलीमें उस ढुंढा नामक राक्षसीका दाह मानते हैं, जिसे व्रजके बालकोंने मिल कर मारा और उसेकाठ-कबाडमें फूंक डाला था।

अधिकांश जनता इसे संवत्का दाह मानती है। देहातोंमें विशेषत: पूर्वी क्षेत्रमें संवत् जलनेकी मान्यता प्रचलित है। इस समय पुराना संवत् समाप्त होता और नयेका आगमन होता है। अतः जनता पुराने अर्थात् मृत संवत्का शव जलाती है और महोत्सवोंके द्वारा नव वर्षका स्वागत करती है। प्रकृति भी इस मासमें अपने स्वरूपको सँवार लेती है। वृक्षोंके जीर्ण-शीर्ण पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और नूतन हरित पल्लव अंकुरित हो उठते हैं। इस पत-झड़के साथ संवत् जलता है और नवकिसलयोंपर बैठे हुए भ्रमर तथा पिक आदिके सरस स्वरों द्वारा ऋतुराज वसंतका अभिनन्दन होता है।

इस अवसरपर हमें भी अपने हृदयसे राग-द्वेसके विचार निकालकर विशुद्ध प्रेम और भक्तिकी भावनासे पूर्ण हो जाना चाहिए। सर्वत्र भगवान् श्रीकृष्णको देखकर सबसे प्रेम करना और सबके स्वागतार्थ हृदयको खोल देना चाहिए। बाहरी रागरंग भीतरके विशुद्ध प्रेमके प्रतीक मात्र हैं। गन्दी गाली और कीचड़ उछालना सर्वथा हेय है। नशाका सेवन भी निन्द्य कर्म है। इनका नाम नहीं लेना चाहिए। भगवत्प्रेम-रससे सराबोर होकर भगवच्चरित्रके गानसे ही इस उत्सवको मुखरित करना चाहिए।

—सम्पादक

(पृष्ठ ५९ का शेषांश)

श्री गदाधरजी सोमानी श्रीकृष्ण जन्म-स्थान सेवा-संघके संमाननीय सदस्य थे। श्रीकृष्ण-सन्देशपर प्रारम्भसे ही उनका अनुग्रह रहा और वे उसके प्रचार-प्रसारके लिए सतत प्रयत्नशील थे। स्वर्गीय सोमानीजी आज हमारे बीच नहीं है, पर उनकी अक्षय पुण्य कीर्ति सदा जगमगाती रहकर हमें प्रकाश देती रहेगी। गीताके अनुसार वे निष्काम कर्मयोगी थे। शरीर तो नश्वर होता ही है, किन्तु आत्मा नित्य, सनातन एवं अजर-अमर है। वे शरीरके बन्धनसे मुक्त हो सर्वव्यापी विभुमें विलीन हो हम सबके अन्तर्यामी बन गये हैं और इस रूपमें हमें सतत सत्कार्यके लिए प्रेरणा देते रहेंगे। उन ब्रह्मलीन महापुरुषके प्रति हमारी यह विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

निगमामृत

ऋत-सूक्त

(ऋ० १०.१९०)

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

उग्र तपस्यासे विरञ्चिकी प्रकट हुए ऋत-सत्य प्रथम,
हुए निशा आदिक फिर विधिसे निर्मित कालभेद अनुपम ।
यह अनन्त जलराशि-संवलित लहराता जो सिन्धु महान्
उसी विधातासे इसका भी प्रादुर्भाव हुआ, लो जान ॥
जलसे भरे महासागरका जब हो प्रादुर्भाव गया,
हुआ विधातासे फिर संवत्सरका आविर्भाव नया ।
संवत्सर वह, दिवस - रात्रिको जो धारण करने वाला,
धृत - निमेष चर - अचर विश्वको भी वशमें रखने वाला ॥
पूर्व कल्प सम परमेष्ठीने रवि - शशिको सप्राण किया,
सुखमय स्वर्ग और भूतलका, नभका भी निर्माण किया ॥

●

सूक्ति-सुधा

वीरका सम्मान

विनाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां
द्युति सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते॥

धनके बिना भी वीर पुरुष उदार सदा-
अति मान-युक्त पद उन्नतिका पाता है,
कृपण यदपि हो अपार वैभवोंसे भरा-
तो भी सभी जगह पराभव उठाता है।
प्रकट स्वभावसे स्वगुण-समुदायसे जो
प्राप्य तेज सिंहको स्वतः मिल जाता है,
हेम-हार-भूषित दुलारसे सुपोषित भी
कुत्ता क्या कदापि उसे प्राप्त कर पाता है॥

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, दुण्ढिराज, वाराणसी-१ में मुद्रित एवं प्रकाशित